काव्यमञ्जूषा ।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी,
झांसी ।

काव्यमञ्जूषा ।

प्रथम भाग

अर्थात्

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी

कृत

स्फुट कविताओं का संग्रह ।
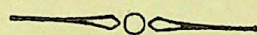
हिन्दी के हितेच्छुक जयपुर-निवासी

मि० जैन वैद्य

द्वारा प्रकाशित ।

हरिप्रकाश, और तारा यन्त्रालय, बनारस, में

मुद्रित ।

१९०३

सूचीपत्र ।

नम्बर	नाम	पद्य-संख्या	समाप्त होने की तिथि		पृष्ठ
१	शिवाष्टकम्	९	९ मार्च	१८९५	१
२	प्रभातवर्णनम्	११	८ जनवरी	१८९६	४
३	अयोध्याऽधिपस्य प्रशस्तिः	९	१६ अक्तूबर	१८९६	७
४	भारतदुर्भिक्ष	२०	२ मार्च	१८९७	१०
५	त्राहि ! नाथ !! त्राहि !!!	२१	२३ नवम्बर	१८९७	१५
६	कान्यकुब्जलीलामृतम्	३८	२१ जनवरी	१८९८	१९
७	समाचारपत्रसम्पादकस्तवः	१६	१२ जनवरी	१८९८	३१
८	नागरी ! तेरी यह दशा !!	२१	९ जनवरी	१८९८	३६
९	सूर्यग्रहणम्	३३	८ फरवरी	१८९८	४०
१०	बालविधवा-विलाप	३४	२५ जुलाई	१८९८	५०
११	गर्दभ-काव्य	१५	२१ अगस्त	१८९८	५७
१२	आशा	२१	८ अक्तूबर	१८९८	६०
१३	प्रार्थना	२८	१७ नवम्बर	१८९८	६४
१४	मेघमालां प्रति चन्द्रिकोक्तिः	२२	२४ नवम्बर	१८९८	७०
१५	कथमहँ नास्तिकः	२५	२० दिसम्बर	१८९८	७७
१६	नागरी का विनयपत्र	२९	२ मई	१८९९	८४
१७	सुतपञ्चाशिका	५३	१७ मई	१८९९	८९
१८	स्वप्न	२७	२२ मई	१८९९	९४
१९	मेघोपालम्भ	१२	२८ अगस्त	१८९९	९९
२०	शरत्सायङ्काल	१२	८ नवम्बर	१८९९	१०१
२१	श्रीधर-सप्तक	७	१२ दिसम्बर	१८९९	१०२
२२	प्लेग-स्तवराज	गद्य	५ फरवरी	१९००	१०४
२३	अयोध्या का विलाप	१९	८ फरवरी	१९००	१०९
२४	कृतज्ञता-प्रकाश	१५	१९ मई	१९००	११२
२५	बलीवर्द	२१	३० सितम्बर	१९००	११५
२६	शेख़सादी की उक्तियां	१३	४ अक्तूबर	१९००	११९
२७	मांसाहारी को हण्टर	२३	१५ अक्तूबर	१९००	१२०
२८	द्रौपदी-वचन-बाणावली	२१	७ नवम्बर	१९००	१२४
२९	काककूजितम्	११	८ अप्रैल	१९०१	१२८
३०	विधि-विडम्बना	१६	११ मई	१९०१	१३१
३१	हे कविते	२४	१४ मई	१९०१	१३३
३२	ग्रन्थकार-लक्षण	१९	१४ अगस्त	१९०१	१३७
३३	सेवावृत्ति की विगर्हणा	१०	२८ अगस्त	१९०२	१४२

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	ध्यानास्यितं	ध्यानास्थितं
३	१९	राक्षशो	राक्षसों
१२	२२	देहि	देहिँ
२१	७	विहाह	विवाह
२४	१९	ऽप शिरा	ऽपि शिरो
२४	२०	कृतार्त	कृतार्थ
१९	१०	करिष्याम	करिष्यामि
२७	३	अपन	अपने
२८	१०	वदीया	त्वदीया
२८	२३	कान एसा	कौन ऐसा
२९	१६	भल	भले
३०	९	जिजिए	लीजिये
३२	१६	महादव	महादेव
३३	९	सकला	सकलाः
३९	२०	कतर	कता
४१	१४	उपयुक्त	उपयोगी
४२	१	लोकेरकारि	लैकैरकारि
४२	२०	ज्यातिषी	ज्योतिषी
४४	६	कामिनी	कामिनियां
४४	७	गंगास्नादि	गंगास्नानादि
४४	८	पहुँची	पहुँचीं
४९	१	स्पर्श	स्पर्श
४५	३	ओार	ओर
४५	१७	धान्ध	धान्य
४७	२१	वह क्या	क्या यह
४९	४	जाड़ा	जोड़ा
५६	११	?	!
५८	२२	हमारा	हमारा है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९	२५	हावै	होवैं
६६	१६	जाने	जानै
६७	१६	अनीतज़ात	अनीति-जात
७३	५	पुनऽश्च	पुनश्च
७४	२३	धन्यावाद	धन्यवाद
७८	५	भगवान्	भगवन्
७९	२	मूर्तिस्तु	मूर्तीस्तु
८२	२०	का ज़रा	को ज़रा
८९	१३	मदयि	मदीय
९०	२२	बधाये	बँधाये
९३	३१	जात = पुत्र	* जात = पुत्र
९५	३१	हिय	हिये
९६	३०	हँसी	हंसी
९६	३०	पाँती	पाँति
९८	२८	का	को
१०१	७	दखि	दीख
१०३	११	पक्तिहु	पांक्तहु
१०३	१७	न्ह्यो	लीन्ह्यों
१०३	२१	सुयश गति	सुयश-गीत
१०८	४	का	की
१०८	५	मृत्यु	मृत्युः
१०९	७	हमार	हमारे
११७	१०	प्यनलकाड	प्यनलकोड
११८	३०	ह	है
११९	२९	पथ	पंथ
१२८	१४	मधुरण	मधुरेण
१२९	२८	चुंगता	चुगता
१३९	७	उनकाही	उनकोहीं
१३९	२५	दौड़ दाड़ स	दौड़ दौड़ से

भूमिका ।

गत कई वर्षों से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की स्फुट कविता, हिन्दी तथा संस्कृत के मुख्य मुख्य समाचार पत्रों और मासिक पुस्तकों में, समय समय पर, बराबर प्रकाश होती आई है । पण्डित जी की कविता मे जो रस और जो अर्थ-गौरव रहता है, वह काव्य-रसिकों से छिपा नही है । उन की सरस और मनोहारिणी कविता की प्रशंसा नागरी-प्रचारिणी सभा, संस्कृत-चन्द्रिका, हिन्दी वङ्गवासी, राजपूत और हिन्दोस्थान आदि ने मुक्तकण्ठ से की है ।

ऐसी मनोहर कविता को एकत्र करना परमोपयोगी समझ कर, आज तक, पण्डित जी के जितने कविता-रत्न प्रकाशित हुए हैं, उन सब का संग्रह, हमने, इस पुस्तकरूपी मञ्जूषा में रख दिया है । जो लोग संस्कृत नहीं जानते, उन के लिए, पण्डित जी ही का लिखा हुआ संस्कृत कविताओं का भावार्थ भी हमने, हिन्दी में, सन्निविष्ट कर दिया है । आशा है, कविता के प्रेमियों को, यह संग्रह रुचिकर होगा ।

जयपुर'
१९ मार्च १९०३

जैन वैद्य ।
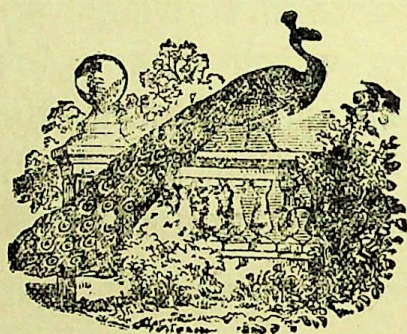
काव्यमञ्जूषा ।

शिवाष्टकम् ।

(संस्कृतचन्द्रिकायास्तृतीयखण्डस्य सप्तमसंख्यायां प्रकाशितम्)

१

शीतांशुशुभ्रकलया कलितोत्तमाङ्गं
ध्यानास्थितं धरणिभृत्तनयार्चितं तम् ।
कालानलोपमहलाहलकृष्णकण्ठं
विश्वेश्वरं कलिमलापहरं नमामि ॥

चन्द्रमा की शुभ्रकला से सुशोभित है शिरोभाग जिनका, योगध्यान मे मग्न हैं जो, पार्वती ने पूजन किया है जिनका, कालानल के समान दुर्धर हलाहल से कृष्ण-वर्ण हो गया है कंठ जिनका, कलि के मल का नाश करनेवाले ऐसे विश्वेश्वर को हम नमस्कार करते हैं ।

२

गायन्ति यस्य चरितानि महाद्भुतानि
पद्मोद्भवोद्भवमुखाः सततं मुनीन्द्राः ।
ध्यायन्ति यं यमिनमिन्दुकलावतंसं
सन्तः समाधिनिरतास्तमहं नमामि ॥

जिनके अद्भुत चरित्रों को नारदादि मुनीश गान करते हैं, समाधिस्थ योगिजन जिनका ध्यान करते हैं, यमादि योग के अंगों में प्रवीण उन चन्द्रशेखर शङ्कर को नमस्कार है ।

३

त्रैलोक्यमेतदखिलं ससुरासुरञ्च
भस्मीभवेद्यदि न यो दययार्द्रदेहः ।
पीत्वाऽहरद्गरलमाशु भयं तदुत्थं
विश्वावनैकनिरताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

विश्व की रक्षा में निरत उस परमपुरुष को हमारा नमस्कार है, जो, दयार्द्र होकर, गरलपानपूर्वक, तज्जनित भय यदि दूर न करता तो सुरासुर सहित यह सारा संसार भस्म हो जाता ।

४

पापप्रसाधनरता दितिजा अपीन्द्रं
सद्यो विजित्य सुरधामधराधिपत्यं ।
यस्य प्रसादबललेशवशादवाप्ता—
स्तस्मै ममास्तु विनतिः परमेश्वराय ॥

परम पापिष्ट राक्षस भी जिसके किंचिन्मात्र प्रसाद को पाकर, इन्द्र को परास्त कर, सुरलोक के अधीश्वर हो गए, उस परमेश्वर को हमारा प्रणाम है ।

५

नो शक्यमुग्रतपसाऽपि युगान्तरेण
प्राप्तुं यदन्यसुरपुङ्गवतस्तदेव ।
भक्त्या सकृन्नततयैव सदा ददाति
यो, नौमि नम्रशिरसा च तमाशुतोषम् ॥

युग के युग उग्र तपस्या करने पर भी, जो वस्तु बड़े बड़े अन्य देवताओं से नहीं मिलती, उसे भक्ति भाव पूर्वक एक बार नमस्कृति मात्र करने से जो देता है, उस आशुतोष शङ्कर को हम सिर झुका कर नमस्कार करते हैं ।

६

भूतिप्रियोऽपि वितरत्यनिशं विभूतिं
भक्ताय, यः फणिगणानपि धारयन् सन् ।

हन्ति प्रचण्डभवभीमभुजङ्गभीतिं
तस्मै नमोऽस्तु सततं मम शङ्कराय ॥

भूति (भस्म) प्रिय † होकर भी जो अपने भक्तों को अहर्निश विभूति (ऐश्वर्य) वितरण करता है; सर्पों के समूह को धारण ‡ करके भी जो भवसागर रूपी भीषण भुजङ्ग के भय को नाश करता है, ऐसे परम कल्याण रूपी शङ्कर को हमारा सतत प्रणाम है।

७

येषां भयेन विबुधा रजनीचराणां
नो तत्यजुर्हिममहीध्रगुहागृहाणि ।
हत्वा ददौ समिति तानपि शैवधाम
त्वत्तः परोऽस्ति परमेश्वर ! को दयालुः ॥

जिन राक्षसों के भय से हिमालय के गुहागृहों को देवता लोग न छोड़ सके, उन्हें भी समर में संहार कर के आपने अपने धाम को पहुंचाया ! हे परमेश्वर ! आप से अधिक दयालु और कौन है ?

८

अर्चा कृता न, तव नाम हर ! स्मृतन्न
नो भक्तवत्सल ! कृतं तव किञ्चिदन्यत् ।
वीक्ष्य स्वपादकमलोपनतं तथाऽपि
मां पाहि कारुणिकमौलिमणे ! महेश !

हमने न तो कभी आपका पूजन किया, न कभी आप के नाम का जप किया, न औरही कुछ हमसे हो सका; तथापि, हे कारुणिकश्रेष्ठ ! हे भक्तवत्सल शङ्कर ! अपने चरण कमलों में नत देख आप हमारा रक्षण कीजिए।

---

† जो वस्तु जिसे प्रिय है वह औरों को नहीं देता, परन्तु यहां उसका विपर्यय देख पड़ता है, यह विलक्षणता है।

‡ अपने घर में भरे हुए सहस्रशः सर्पों के भय का प्रतीकार न करके तज्जनित दूसरों के भय को दूर करने के लिए दौड़ना विचत्रता है।

९

महावीरप्रसादो यो द्विवेदिकुलसम्भवः ।
स भक्त्या परया युक्तश्चकारेदं शिवाष्टकम् ॥

द्विवेदि कुल मे उत्पन्न हुए महावीरप्रसाद ने, परम-भक्ति-युक्त होकर, इस शिवाष्टक की रचना की।

प्रभातवर्णनम्।

(संस्कृतचन्द्रिकायास्तृतीयखण्डस्य द्वादशसंख्यायां प्रकाशितम्)

१

ममाऽचिरात् सम्भविता समाप्तिः
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।
उषः प्रकाशप्रतिभामिषेण
विभावरी पाण्डुरतां बभार ॥

'थोड़ीही देर मे मेरा अन्त हो जायगा' इस प्रकार हृदय में मानो चिन्तना करती हुई रात्रि ने प्रभात की अरुणाई के मिष, शोक से, पाण्डुरता को धारण किया।

२

मृगाधिपस्यागमनेन सर्वे
यथाल्पसत्वा विपिनं त्यजन्ति।
तथा भयेनेव विभाकरस्य
तारागणा लोपपरा बभूवुः ॥

सिंह के आतेही जैसे और सब छोटे छोटे जंगली जीव, जंगल को छोड, अन्यत्र चले जाते हैं, वैसेही सूर्य के भय से, भीत से हुए तारागण धीरे धीरे लोप होने लगे।

३

श्यामां सिषेवे चतुरोऽपि यामान्

यां, वीक्ष्य तस्याः पतनं शशाङ्कः ।

मन्ये महाशोकसमाप्लुताङ्गः

स पश्चिमाम्भोधिजले पपात ॥

जिस श्यामा (रात्रि तथा षोडशवार्षिकी नवला कामिनी) का बराबर चार प्रहर पर्यन्त सेवन किया उसीका नाश होता देख, अत्यन्त शोकाकुल होकर, हमारी समझ मे, यह चन्द्रमा, पश्चिम समुद्र मे डूब मरा।

४

अलङ्कृतोऽयं महसोदयाद्रि—

सिंहासनस्थो भविता क्षणेन ।

इति प्रभाते विरुतिच्छलेन

द्विजा दिनेशस्य जगुर्यशांसि ॥

अपने तेज से अलंकृत होकर, सूर्य अब शीघ्रही उदयाचल रूपी ऊंचे सिंहासन पर विराजमान होगा, यह जानकर, द्विज (पक्षी तथा ब्राह्मण) अपनी चहचहाहट के बहाने मानो उसका यश गान करने लगे।

५

क मामनादृत्य निशान्धकारः

पलाय्य पापः किल यास्यतीति ।

ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानु—

रंगाररूपः सहसाऽऽविरासीत् ॥

'रात्रि सम्बन्धी यह दुष्ट अन्धकार, हमारा अनादर कर के, अब कहां भग कर जायगा' ? इस प्रकार भावना करता हुआ, क्रोध से अंगार के समान जलता सा, लाल सूर्य अकस्मात् निकल आया।

६

दृष्ट्वा पतन्तं रविबिम्बमारात्

दिवस्तमिस्रेण तिरोबभूवे ।

महात्मनां सम्मुखसंस्थितो हि
कियत्क्षणं स्थास्यति दुर्विनीतः ? ॥

सूर्य के बिम्ब को वेग के साथ आकाश से निकलते देख अन्धकार लोप हो गया । ठीक है; महात्माओं के सम्मुख दुर्विनीत मनुष्य कितनी देर ठहर सकेगा ?

७

कुशेशयैः स्वच्छजलाशयेषु
वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु ।
वनेषु पुष्पैः सवितुः सपर्य्या
तत्पादसंस्पर्शनया कृताऽऽसीत् ॥

स्वच्छ जल जिनमे भराहुआ है ऐसे जलाशयों मे कमलों से, घरों मे स्त्रियों के मुखरूपी अम्भोजदलों से, वन मे नाना प्रकार के फूलों से, उसके पाद (किरण) स्पर्शद्वारा सूर्य की पूजा सी होगई ।

८

प्राप्योदयं पङ्कजकोशलीनान्
सद्यो मुमोचालिगणान् दिनेशः ।
यद्वैभवे सत्यपि दैन्यदग्धान्
दुःखार्णवात् के न समुद्धरन्ति ? ॥

रात को कमलों मे जो भ्रमर बन्द हो गए थे, उदय होतेही सूर्य ने उनको मुक्त कर दिया । सच है; विभव प्राप्त होने पर, दीन जनों को आपत्तिसागर से कौन नहीं उद्धरण करता ?

९

त्वया समस्तं तिमिरं निरस्तं
कृतो महानुग्रह एष देव ?
खगा इदं बोधयितुं रविन्नु
तदुन्मुखा नीड़गृहेषु तस्थुः ॥

‘ तूने सारे अन्धकार का नाश कर हमारे ऊपर महान् अनुग्रह किया ’ । क्या इस प्रकार सूर्य को कहने के लिए अपने अपने घोसलों मे उसकी ओर मुख कर के ये सब पक्षी बैठे हैं ?

१०

गावो वनं फुल्ललतां द्विरेफा
द्विजाश्च सन्ध्या समुपासनार्थं ।
कृषीवलाः स्वेष्टकृतिं प्रकर्तुं
जग्मुर्दिनेशाय नतिं विधाय ॥

सूर्य को नमस्कार कर के, गाएं इत्यादि पशु जङ्गल को, भ्रमर फूलीहुई लताओं को, ब्राह्मण सन्ध्या करने को, और कृषिकार अपना अपना कृषिकार्य देखने को गए ।

११

इति तिमिरमुदस्य व्योममार्गेण पश्यन्
निखिलजनसमूहान् स्वस्ववृत्तौ विलग्नान् ।
मुदित इव विवस्वान् शुक्लवर्णं बिभर्ति
तमहमपि च नत्वैतस्य पूर्तिं तनोमि ॥

इस प्रकार अन्धकार का उच्छेद कर के, आकाशमार्ग से सब लोगों को अपने अपने कार्य मे लगे हुए देख, मुदित सा हुआ सूर्य, शुक्लवर्ण धारण करता है; अतः हम भी उसको प्रणाम कर के अब इसे समाप्त करते हैं—

अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः ।

(संस्कृतचन्द्रिकायाश्चतुर्थखण्डस्य अष्टमसंख्यायां प्रकाशिता)

१

श्रीमत्प्रतापमहिपाल ! विशालभाल !
काव्यार्थचिन्तककवीश्वरकण्ठमाल !
नित्यं प्रजाजनविपत्तिविनाशकाल !
भूयाः सदा सुखसमृद्धिसुतान्वितस्त्वम् ॥

काव्यार्थ का चिन्तन करनेवाले कवीश्वरों के कंठमाल; नित्य—प्रति प्रजा की विपत्तिनाश करने मे कालरूप; हे विशालभाल ! श्रीप्रतापनरेश ! आप सदैव सुख से, ऋद्धि सिद्धि से तथा पुत्रादि से युक्त रहें !

२

विद्वल्ललाम ! भुवि विश्रुत ! पूर्णकाम !
विश्वोपकाररत ! सर्वगुणैकधाम !
स्वप्रान्त 'कौंसिल' सभासदसत्प्रदीप !
कीर्तिर्दिवं व्रजतु ते सततं महीप !

आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं; आप सारे संसार मे विख्यात हैं; आपकी सकल कामनाएं पूरी हुई हैं; आप विश्वोपकार मे सदा रत रहते हैं; आप मे सारे गुण वास करते हैं; आप अपने प्रान्त के 'कौंसिल' के सभासदों में दीपक के तुल्य प्रकाशित हैं। हे राजन् ! आपकी कीर्ति देवलोक पर्यन्त विचरण करे—यही हमारा अशीर्वाद है।

३

वाल्मीकिजा, कविकुलस्तुतकालिदास—
पत्नी, सुबन्धुधनिकादिकपूज्यमाता।
जीर्णाखिलाङ्गकवितावनिता चिरेण
त्वां प्राप्य वैद्यमिव नीरुजतां दधाति॥

वाल्मीकि मुनि की कन्या, कवियों ने जिसकी स्तुति की है ऐसे कालिदास की पत्नी, तथा सुबन्धु धनिक आदि पंडितों की माता, जीर्ण अंगों को धारण करनेवाली यह कविता रूपी कांता, सद्वैद्य के समान आपको पाकर, फिर हरी भरी हो गई है।

४

या 'के-सि-आइ-इय' इत्यतिमानमूला
दत्ता प्रशस्तपदवी भवते च राज्ञ्या।
कार्तस्वरेण सह रत्नमिवाविभाति
सा कोसलेश ! तव नामसमागमेन॥

हे कोसलेश ! आपको जो के० सी० आई० ई० की अति माननीया उत्तम पदवी रानी ने प्रदान की है वह, सुवर्ण के साथ रत्न के समान, आपके नाम के संयोग से शोभा पाती है।

५

त्वां वीक्ष्य दाननिरतं सततं नरेश !
लज्जाविनम्रवदनः सुरपादपः सः।
शङ्के सुमेरुगिरिगह्वरमाविवेश ;
नो चेत्, कथं न भुवि लोचनलक्ष्यमेति ?

हे नरेश ! आपको सतत दाननिरत देखकर, लज्जा से अपना सिर नीचा करके, वह जगत्प्रसिद्ध कल्पवृक्ष, हमारे जान, मेरुपर्वत की कन्दरा मे छिप गया है। यदि ऐसा न होता तो वह भूमंडल मे दिखाई क्यों न देता ?

६

दानं, दयाधन ! दयां, नयनैपुणञ्च,
शास्त्रे गतिं जनहिताचरणे रतिं, ते।
दृष्ट्वा दिलीपरघुरामकुशाजमुख्यान्
भूपाँश्च न स्मरति पूर्वभवानयोध्या ॥

हे दयाधन ! आपकी दया, आपका नीतिनैपुण्य, शास्त्र मे आपकी गति तथा लोकहित मे आपकी प्रीति को देखकर आपकी राजधानी, यह अयोध्या, दिलीप, रघु, रामचन्द्र, कुश, अज, आदि पहिले के राजाओं को भूल गई !

७

स्वप्नेऽपि न द्विजपतिं त्वमधः करोषि
मायां तनोषि च महीप ! न शात्रवेऽपि।
न त्वं समाक्षिपसि देव ! वृषं कदापि
तेनोपमा भवतु ते कथमच्युतेन ?

हे महीप ! आप स्वप्न मे भी द्विजपति (ब्राह्मण) का तिरस्कार नहीं करते; आप अपने शत्रुओं के साथ भी माया नहीं रचते; आप वृष (धर्म) का कभी व्याघात नहीं करते; अतः विष्णु से हम आपकी किसप्रकार उपमा दें ? क्योंकि,

विष्णु द्विजपति (गरुड़) को अधः (नीचे) करते हैं अर्थात् उस पर सवार होते हैं; सदैव माया रचा करते हैं; तथा वृष (वृषभासुर नाम के दैत्य) का घात भी उन्होंने किया है।

८

दीपाङ्कुरैर्दिनकरस्य कराभिपूर्ती
रत्नाकरस्य भरणञ्च तुषारतोयैः ।
वैचित्र्यमावहति नाथ ! यथा जनानां
कीर्तिस्तथैव कविभिस्तव गीयमाना ॥

एक छोटे से दीपक को जलाकर सूर्य के समान प्रचंड प्रकाश उत्पन्न करने का यत्न करना अथवा ओस के कणों से समुद्र को भरने जाना जिस प्रकार लोगों को उपहासास्पद जान पड़ता है--कवियों के द्वारा आपकी कीर्तिका गान कियाजाना भी वैसेही है।

९

अत्यन्तविस्तृतपवित्रयशस्त्वदीयं
सर्वासु दिक्षु परितः स्वतनुं तनोतु ।
येनाखिलप्रवरपण्डितदत्तमान !
तुष्टिं प्रहृष्टहृदयः परमां व्रजामि ॥

अच्छे अच्छे पंण्डितों को मान देने वाले हे राजन् ! आपका अत्यन्त विस्तृत यश सब दिशाओं मे चारों ओर फैलै; जिससे, अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक, हमारा हृदय सन्तोष को प्राप्त होवै।

भारतदुर्भिक्ष ।

(११ मार्च १८९७ के हिन्दोस्थान मे प्रकाशित)

१

हे रघुराज ! लाज भारत की आज रहै किहि भांती ;
अति विकराल काल की भीषण भेरी सुनी न जाती ।

नाती पूत मीत ममता तजि भए सुजाति कुजाती
हा हा कार सुनत लोगन के काकी फटे न छाती ?

२

गली गली कंगाल पेट पर हाथ ठोंड धरि धावैं ;
अन्न अन्न पानी पानी कहि शोर प्रचंड मचावैं ।
बालक, युवा, जरठ, नारी, नर, भूख भूख कहि गावैं ;
अविरल अश्रुधार आँखिन ते बार बार बहावैं ॥

३

अस्थिमात्र जिनके शरीर हैं ऐसे बालक नाना ;
गोद माहिं माता की लिपटे रोवत कण्ठ सुखाना ।
मांगे मिले न भीख माय कहँ किहि विधि राखहि प्राना ,
विह्वल विकल विपन्न पुकारति हा ! हा !! हा भगवाना !!!

४

पति से पृथक भई नव पतनी मातु सुता सँग त्यागी ,
पिता पुत्र तजि हाय ! बाय मुख मांगत टूक अभागी ।
जननी प्रान तुल्य शिशु बेंचत इक दिन भोजन लागी
त्राहि कहत तीडीदल तद्वत फिरै प्रजा सब भागी ॥

५

पति मुख देखि देखि पतनी अति बोलत आरत बानी ,
"नाथ देहु मोहिं लाय आज कछु नातर वयस सिरानी"।
सन्ध्या समय रिक्त कर पति कहँ लखि बहु रोदन ठानी
सिर धुनि, विलपि, मीचु के मुख मे कुलकामिनी समानी ॥

६

"मरे मरे अब अवशि आजु" इमि बोलत लाखन प्रानी
वस्त्र विहीन दीन दुख रोवत जानत सूम न दानी ।

सुतहि फेंकि माता जठरानल-जरी भगै अकुलानी
मा ! मा !! मा !!! पुकार शिशु केरी नेकु न मन में आनी ॥

७

लोचन चले गए भीतर कहँ कंटक सम कच छाए
कर मे खप्पर लिए, अनेकन जीरण पट लपटाए।
मांस विहीन हाड़ की ढेरी भीषण भेष बनाए
मनहुँ प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाए ॥

८

शक्ति नहीं जिनके बोलन की तकि तकि मुख फैलावैं,
सींक समान पैर लीन्हे बहु रोवत गोबर खावैं।
गुठली खान हेत बेरन की ढूंढ़त खोज न पावैं
पग पग चलैं गिरैं पग पग पर आरत नाद सुनावैं ॥

९

"अरे जाहु कंगाल भवन" यह सुनत अधिक दुख पावैं,
कहैं वहां पशुधरतहि हम कहँ कर धरि दंड भगावैं।
रहन देहिं दिन द्वैक कदाचित आग्रहि पाव खिलावैं
महाराज ! कहिए किहि विधि हम अपने प्राण बचावैं ॥

१०

मन्द दृष्टि यदि ईश ! भए, जन-दशा न परै दिखाई
तो लारेंस मेव ते चश्मा कस नहिं लेहु मँगाई ?
श्रवण शक्ति यदि विकृत, लोककृत विनय न परै सुनाई
केम्प कम्पनी ते इक नलिका-यन्त्र देहिं पठवाई ॥

११

तुम सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु यह हमारि लरिकाई
अनुचित कहहिं वार बहु तुम कहँ जो यहि विधि दुख पाई।

करैं कहा फिरि हे करुणानिधि ! विपति सही नहिं जाई
मृतक ढेर के ढेर होत नित सुत पितु भगिनी भाई ॥

१२

मातु पिता सुत सुता सकल मिलि जहँ बहु कीन कलोलैं
प्रीति समेत परस्पर प्रति दिन मृदुल वचन जहँ बोलैं।
प्रात काल उठि नवल कामिनी द्वार जासु जगि खोलैं
रुद्ध भवन तहँ घूक कूक करि प्रमुदित इत उत डोलैं ॥

१३

अतिहि कराल काल के मुख ते किंहि किहि कौन बचै हैं
मृतक देखि पति पुत्र प्राण सम नारी गरल अचै हैं।
बैठि उलूक मन्दिरन ऊपर बांधी ध्वजा लचै हैं
वायस श्वान शृगाल पैठि घर हाहा कार मचै हैं।

१४

अबै कहा है भयौ, कछुक दिन बीते नगर अनेका
मानुष शून्य मरुस्थल ह्वै हैं, जैहैं सब इक एका।
शिवा शोर करिहैं गलियन महँ मोर मारिहैं केका
बैठि निशंक वापिका तट पै शब्द करैंगे भेका ॥

१५

इक दुर्भिक्ष भयङ्कर तापै मरी मरी चढ़ि आई
क्षण महँ शत शत जन समूह कहँ यमपुर देत पठाई।
आज रहे जिन संग कालिह तिन मरे सुनत घर जाई
देखैं तहां गृद्ध गण केरी प्रमुदित बजै बधाई ॥

१६

होत कष्ट कितनो यदि एकहु दिन नहिं खाहु अघाई
सो नहिं छिपो अहै तुमते हे भारतवासी भाई !

फिरि निरन्न नर नारि हज़ारन हाय हाय जो धाई
मांगत प्राणदान तिनकी तुम कस नहिं करहु सहाई ?

१७

दौरि दौरि जिन गोद उठावहु लेवहु हिए लगाई
वारहु कोटि कोटि जिन ऊपर कोहनूर समुदाई ।
ऐसे पुत्र रत्न अपने लखि कहहु कबहुँ सुधि आई
कैसे बचैं बाल उनके जिन भीख न तुमते पाई ॥

१८

भरतखण्ड के धनिक धुरंधर तुम्है न कोउ जगावै
देखत दारुण दशा देश की निशि निद्रा किमि आवै ?
लखि परिवार पुष्ट अपनो कह हरी हरीहि दिखावै ?
शोकानल स्वजाति को सपनेहु हाय न हृदय जरावै !

१९

प्रिये ! प्रिये ! कहि कण्ठ लगावहु जिनको अति सनमानी
उन समान लाखौं अनाथिनी तिया नैन भरि पानी ।
तजि घर द्वार अहार हेत बहु बोलत गद गद बानी
तिनकी ओर तनिक तो चितवहु करुणा कहां भुलानी ?

२०

बृटिश-सिंह हुङ्कार यदपि जन-दुःख दूर लौं खोवै
यदपि दुष्ट दुर्भिक्ष कहूं कहुँ सुख की नींद न सोवै ।
तदपि सकल की मिलि सहाय जो कछु कछु विपति विगोवै
तो न हाय आरत यह भारत अब की ग़ारत होवै ॥
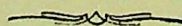
त्राहि ! नाथ !! त्राहि !!!

(२९ नवम्बर १८९७ के हिन्दी बङ्गवासी में प्रकाशित)

१

हे जगदीश ! शीश मैं अपनो बीस बार महि धारी ,
पुनि पुनि पुनि तृण तोरि जोरि कर विनती करों तिहारी ।
कोप शान्त करि कान्त रूप धरि हरे ! हरहु दुख भारी ,
न तु पाताल प्रवेश करैगो अब यह देश दुखारी ॥

२

एक नहीं, द्वै नहीं, तीनि नहिं, चारिहु नहिं, बरु नाना
विपति एक ते एक भयङ्कर देहु, धन्य भगवाना !
वीर्यहीन अतिदीन देश यह ता पर शर सन्धाना ;
मृतकप्राय काहिं मारन हित धरहिं न धनु बलवाना ॥

३

नाना रत्न पूरि जिहि माहीं शोभा जासु बढ़ाई
पुण्य-भूमि प्रख्यात नाम करि सकल कला उपजाई ।
प्रभुता जासु सर्व देशनपै प्रथमहिं ते प्रकटाई
ताही कहँ अरण्य करिबे को प्रभु अब भुजा उठाई !

४

स्वकृत मृत्तिकागेह, नेह तजि, बालकहू न नसावैं
करि रक्षा ताकी उपाय भरि, स्वस्थ देखि सुख पावैं ।
तुम सर्वज्ञ शक्ति-संयुत हौ, इमि महर्षिगण गावैं ;
भाँति भाँते के विशद विशेषण नाम संग तव लावैं ॥

५

हरे ! सोइ तुम पुरुष पुरातन, न्यायी, जगदाधारा ;
रम्य बनाय देश भारत कहँ चाहहु ताहि उजारा ।

लखि अनर्थ अस जो पै करुणा नहि तव हृदय·विदारा ;
ईश ! तुमहिं तजि लाज लेशहू कह कहुँ अन्त सिधारा ?

६

मर्दन करि मर्य्याद आपनी मघवा दीन न पानी ;
सिक्षा बिनु यमराजभक्ष्य भे सहसा लाखन प्रानी ।
रहे कछूक धनी मानी जे तिनहुँ कि मिटी निशानी
करुणा-सागर तऊ नेक तुम करुणा हिये न आनी !

७

पानी पानी पानी माँगत थकी विश्व की वानी
ज्वार, बाजरा, मोठ, मूंग सब जहँ की तहां सुखानी ।
लेन जाय यदि ऋण कोऊ कहुँ कौड़िहु मिलै न कानी ;
अस दुर्भिक्ष देखि लोगन की सुधि बुधि सबै भुलानी ॥

८

अन्न अन्न अवसन्न पुकारत भगै प्रजा अकुलाई ;
खाल, बाल अरु अस्थिजालमय भये शरीर सुखाई ।
पुत्र प्राण प्रिय सेर चून लगि गए अनेक बिकाई
दयानिधे ! सोउ सकल दीख तुम पै हिय दया न आई ॥

९

मिलै घास भूसा नहि ढूंढ़े मूसा घर तजि भागे
रुपिया अश्व, अठन्नी महिषी, बैल चवन्नी लागे ।
भए सुजाति कुजाति धर्म्म बिनु कुलमर्य्यादा त्यागे
सुख से सोवत रहे शेष पै तौहू तुम नाहिं जागे ॥

१०

बहुरि भयौ भूकम्प भयङ्कर प्रलय प्रचण्ड समाना
वङ्ग देश कर अङ्ग भङ्ग सुनि का को हिय न सकाना ?

बड़े बड़े प्रासाद ध्वस्त भे अस्त भये घर नाना
दण्ड एक लौं खगड खगड ह्वै गिरि, गिरिकुल घहराना ॥

११

नगर भव्य भारी शिलाङ्ग सम नारी नर सह सारा
भयो पलक महँ भूतलशायी जानत सब संसारा ।
घरविहीन अति दीन मनुज जे भगे हज़ार हज़ारा
रेत-वृष्टि आदिक उतपातन तिन सब कहँ संहारा ॥

१२

जहां नदी तहँ मरु प्रदेश भो; जहँ मरु तहँ जल धारा ;
फटी भूमि महँ गये अनेकन जन, करि हाहा कारा ।
तप्त-धातु के चले फुहारे जिन बहु जीवन जारा ;
तबहूँ तुम न धाय गरुड़ध्वज ! भुजा उठाय उबारा ॥

१३

तदनन्तर सीमा प्रदेश महँ रण अति भीषण गाजा ;
सेना साजि साजि जहँ अपनी गये अनेकन राजा ।
गुरखा, सिक्ख, पठान, पुरबिया, राजपूत सिरताजा ,
सजे फिरंगिन संग जंग हित बजे वीर रस बाजा ॥

१४

होत घोर संग्राम दिवानिशि बहैं रुधिर के नारे ;
" यह रण अपर महा भारत है इमि भाषहिं नर सारे । "
शीस-हीन, करहीन, हीन पद, भे बहु वीर बिचारे,
अगणित भट, अगणित खर, घोटक, कटि यमपुरी पधारे ॥

१५

भईं भर्तृहीना जे नारी तिनकी क्लेश कहानी
सुनि पत्थरहू फटै, और की गति को कहै बखानी ?

होवैं बलि समराग्निकुंड महँ झुंड झुंड नित प्रानी ;
तऊ शीघ्र नाहिं शान्त कीन रण, ईश ! काह मन ठानी ?

१६

इतनेहुँ पर न तोष उर आना आंधी प्रबल चलाई
भूमिकम्प मे शेष रहे जे, ते घर द्वार गिराई ।
अर्द्ध लक्ष लौं मनुज मीचु के दीन्ह्यो अतिथि बनाई
जानि परै अब हरे ! हमहिं यह रसा रसातल जाई ॥

१७

यह जो भयो, भयो सो सब, अब मरी मरी है आई ;
धारि त्रिविक्रम रूप आदि महँ प्रति दिन बाढ़त जाई ।

मुम्बापुरी, कराची, पूना, सूरत सारी खाई ;
तौहू तृप्ति भई याकी नाहिं, अधिक अधिक अधिकाई ॥

१८

ग्राम अनेकन नाम शेष भे याम माहिं कहि 'रामा'
प्राण देहिं शत शत प्राणी नित शून्य होहिं बहु धामा ।
रोवै को ? मनुष्य बिन इत उत मृतक परे सब ठामा
सुनत विदीर्ण होय हिय, इतने हृषीकेश ! तुम वामा !!

१९

हरिद्वार, कनखल, जालंधर पहुँचि यक्षिणी मारी
भक्षण लगी मनुष्यन हा ! हा ! लक्षण अति भयकारी ।
बचब कौन विधि हे जगदीश्वर ! अब ध्रुव मृत्यु हमारी
अस विचारि व्याकुल सब कोई आये शरण तिहारी ॥

२०

स्वकृत सकल अपराधजन्य जन दंड विविध विधिं पाई ,
हाहाकार पुकारि, जोरिकर, सहस बार सिर नाई ।

चाहत नाथ ! नाश मारी कर, ताहि भगावहु धाई,
कीजै लोप कोप अपनो यह, अब दुख सहो न जाई ॥

२१

किए बिलम्ब, प्रलय पूरी इत ह्वै है, तब पछितैहौ ;
स्वकर बनाए को बिगारि कै, अन्त ताप हिय पैहौ ।
नहिं, नहिं, अस कदापि करिहौ नहिं, दया दृष्टि तुम दैहौ,
प्रणतपाल ! यहि काल उबारन, ऐहौ, ऐहौ, ऐहौ ॥

कान्यकुब्जलीलामृतम् ।

(संस्कृतचन्द्रिकायाः षष्ठखण्डस्य षष्ठसंख्यायां प्रकाशितम्)

१

सदैव शुक्लारुणपीतवर्ण—
पाटीरपङ्कावृतसर्वभाल !
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन् !
हे कान्यकुब्ज द्विज ! ते नमोऽस्तु ॥

सफेद, लाल, और पीले रंग के चंदन का खौर जिसके सारे मस्तक पर चढ़ा हुवा है; धोती जिसकी इतनी लम्बी है कि ज़मीन तक की ख़बर लेती है; ऐसे हे कान्यकुब्ज देवता जी ! आपको हमारा नमस्कार है।

२

बहूनि गायन्ति यशस्त्वदीयं
पत्राणि* ते वंशधरैः कृतानि ।
एकस्य तन्मे मितभाषिणस्त्व—
मिदं क्षमस्व स्तवचञ्चलत्वम् ॥

* समाचारपत्राणि ।

आपके वंशवाले अनेक कन्नौजिए ब्राह्मण अपने अपने समाचार पत्रों मे आप का यश गाया करते हैं। हम तो अकेले ही हैं; और अकेले होकर भी, हज़ार दो हज़ार की कौन कहे, केवल तीस चालीस ही श्लोक कहने की शक्ति रखते हैं, अतएव, इस स्तोत्र के लिखने में, हमारी चपलता, आप क्षमा किजिए।

३

भवन्ति ते धन्यतमा द्विजा, ये
त्वदीयसम्बन्धमवाप्नुवन्ति।
व्रजन्ति ते ब्रह्मपदं तथान्ते
त एव वंशं निजमुन्नयन्ति॥

जिन पुण्यवान् ब्राह्मणों से आप सम्बन्ध करते हैं, वे धन्य हैं; ब्रह्म-पद उन्ही को अन्त में मिलता है; और वही अपना वंश उच्च पदवी को पहुँचाते हैं।

४

अहो दयालुत्वमतः परं किं ?
यथेहितं यद्द्रविणं गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्वं विमलीकरोषि
तदीयकन्याकरपीडनेन॥

आप बड़े दयालु हैं! इस से अधिक, कहिए, और क्या दयालुता हो सकती है कि, मनमाना रुपया ऐंठ कर आप निंद्य से निंद्यों को भी, उनकी कन्या का पाणि-ग्रहण करके, (चंद्रमा के समान) उज्वल कर देते हैं ?

५

स्वगोत्रजानेव यदा सदा त्वं
" किं धाकरै † स्तै " ? रिति धिक्करोषि।
तदाऽन्यजातीयजनास्त्वदीयाः
के नाम नाम वन्द्यैरपि वन्दनीयाः ?॥

† धाकरैः प्राकृतसंज्ञाविशेषैः।

"अरे उन धाकरों से क्या मतलब ?" इस प्रकार भला जब आप अपने सगोत्रजोंही को धिक्कारा करते हैं, तब दूसरी जाति वाले, फिर चाहे महात्मा भी उनका आदर क्यों न करते हों, आप के सामने क्या चीज़ हैं ?

६

शास्त्रीयवार्तासु भवत्यहो ते
मुखे रसज्ञा किल कीलितेव ।
स्थिते तु वैवाहिकभाषणे त्व—
माविष्करोष्यद्भुतवाक्पटुत्वम् ॥

शास्त्रीय वार्ता होने पर आपकी जीभ आपके मुखारविन्द में कीलों से जड़ सी दी जाती है; परन्तु विवाह काज की बात निकलते ही, अह ! आपकी ज़बान एक मिनट में सौ मील के हिसाब से चलने लगती है !!

७

शेषस्तदा किं रसनासहस्र
स्वीयं महीदेव ! ददाति तुभ्यम् ?
येन त्वदुक्तिप्रखरप्रवाहै—
स्तिरस्क्रियन्ते बहु वाग्मिनोऽपि ॥

उस समय, शेष महाराज, क्या आपको अपनी हज़ार जिह्वायें दे देते हैं, जो आप की बातों के वेगगामी प्रवाह के सामने बड़े बड़े वक्ताओं को भी हार माननी पड़ती है ?

८

मन्ये तदैव त्वयि वासवोऽपि
न्यासीकरोत्यक्षिचयं स्वकीयम् ।
न चेन्निमेषेण कथं परेषां
दोषानसंख्यांश्च समीक्षसे त्वम् ॥

हमारी समझ में, उस समय, इन्द्र महाराज अपनी हज़ार आखें आपके पास गिरवी रख देते हैं; क्योंकि, यदि ऐसा न होता तो, दूसरों के असंख्य दोष आप, आंख की पुतली बदलते बदलते, किस प्रकार गिन जाते ?

९

कन्याविवाहे समुपस्थिते त्व—
मृणं गृह भूषणविक्रयं च ।
कृत्वा, कृतार्थं मनुषे नृजन्म
विलक्षणौदार्यमिदं त्वदीयम् ॥

कन्या का विवाह उपस्थित होने पर, ऋण लेकर, घर बेंचकर, ज़ेवर बेंचकर, हरतरह से आप (विवाह से निश्चिन्त होकर) अपना जन्म कृतार्थ समझते हैं। ओह ! हो ! आपकी उदारता का कुछ ठिकाना है ? विलक्षण है !

१०

पुनः पुनः पुत्रवधूपितुश्च
धनानि हृत्वाऽपि धरासुरेन्द्र !
निरन्तरं तस्य कदर्थनायां
न शोभते ते रसनोपयोगः ॥

ब्राह्मण-राज ! अनेक बहाने से पुनः पुनः अपने समधी देवता से रुपए वसूल करके भी निरन्तर उसकी कदर्थना करने में आपकी जिह्वा शोभा नहीं पाती ।

११

गुणान्वितं, द्रव्ययुतं, विहाय
हा ! भूसुर ! त्वं कुलपक्षपातिन् !
मूर्खाय, निःस्वाय, वराय कन्यां
प्रदाय तज्जन्म वृथाकरोषि ॥

हे कुलपक्षपाती ब्राह्मण देवता ! आप गुणी और धनी लड़के की ओर दृक्-पात न करके, मूर्ख और दरिद्री लड़के को, कन्या देकर, हाय ! हाय ! उस बिचारी के जन्म का सत्यानाश करते हैं !

१२

किं विद्यया ? किं तव कर्षणेन ?
व्यापारवृत्त्या किमु ? चापि भृत्या ?

जयत्यहो स श्वशुरालयस्ते
त्वं कल्पवृक्षीयसि यं सदैव ॥

आप को विद्या से क्या ? किसानी से क्या ? व्यपार से क्या ? और नौकरी चाकरी से भी क्या ? आप क्यों इनका आश्रय लेने लगे ? जीती रहे आप की ससुराल, जिसे आप कल्पवृक्ष समझते हैं, और जहां से कुछ न कुछ सदैव जटते ही रहते हैं।

१३

निःशेषनिन्द्यव्यसनेषु नित्यं
शनैः शनैर्नाशितवित्तजातः ।
चिरेण जागर्षि चमत्कृतः सन्
विद्राव्य दीर्घालसघोरनिद्राम् ॥

नाना प्रकार के निंद्य व्यसनों मे लिप्त होकर धीरे धीरे जब आप अपना सर्वस्व खो बैठते हैं, तब दीर्घ आलस्य रूपी आपकी घोर निद्रा भंग होती है, और आपकी आंख खुलती है। उस समय आपको आटा दाल का भाव मालूम होता है।

१४

यत्नेन केनापि तदा कथंचित्
करोषि कष्टेन वयोऽतिपातम् ।
तथापि हा ! हा ! न जहासि शुष्कं
गभीरगर्वं वरवंशजातम् ॥

पूर्वोक्त अवस्था को प्राप्त होने पर आप किसी प्रकार जैसे तैसे बड़े कष्ट से अपने दिन काटते हैं। परन्तु उस दशा में भी हाय ! हाय ! आप अपनी कुलीनता का शुष्क गर्व नहीं छोड़ते !

१५

अलं विवाहादिविधिस्तवेन
हे कान्यकुब्जावनिदेव ! देव !
अतः परं पश्य निजान्यलीलां
श्रुतिस्मृतिस्थापितधर्मशीलाम् ॥

हे कान्यकुब्ज महाराज ! विवाहादि विषयक आप का स्तोत्र हम अधिक नहीं बढ़ाना चाहते ! उसे हम यहीं तक रहने देते हैं। अब, आप श्रुति और स्मृति के द्वारा स्थापन किए गए धर्म का ठीक अनुसरण करने वाली, अपनी अन्य लीलाओं को देखिए।

१६

ते वाजपेयादिमखाः कृतास्तै—
रेकद्विवारं तव पूर्वजैस्तु।
पारावतच्छागलमत्स्यमेधा
मखा गृहे ते प्रभवन्त्यनेकाः॥

पूर्वकाल में आप के पूर्वजों ने वे वाजपेय आदि यज्ञ एकही दो बार किए हैं; परन्तु आप के घर में, अश्वमेध के साथी कबूतरमेध, छागमेध, मछलीमेध, इत्यादि अनेक यज्ञ हुआ ही करते हैं।

१७

स्वभ्रातृगेहेऽपि यदाऽप्रसन्नः
पानीयपानेऽपि शिरो धुनोषि।
वेश्याजनस्याप्यधरामृतेन
कृतार्थतां यासि यदाऽसि तुष्टः॥

आप जब कुपित होते हैं तब अपने सगे भाई के भी घर में, और वस्तु की बात नहीं करते, पानी भी पीने में सिर हिलाते हैं; परन्तु जब आप प्रसन्न होते हैं तब वेश्याजनों के भी अधरामृत से अपने को कृतार्थ समझते हैं।

१८

समाजमुख्यास्तव ये सभासु
तेषां चरित्रं भुवनातिशायि।
विहाय कांश्चिद्गणयन्ति नान्याँ—
स्ते कान्यकुब्जद्विजनामयोग्यान्॥

आपकी सभा में समाज के जो मुखिया हैं उनका चरित्र बहुत ही बढ़ा चढ़ा है। वे दो चार को छोड, शेष सब को कान्यकुब्ज कहलाए जाने के योग्यही नहीं समझते।

१९

विशिष्टविद्यापरिशीलनेन
बुद्धेर्विकाशो भवतीति नीतिः ।
एषामहो त्वद्विदुषामुदार—
भावः परं सङ्कुचतीव भाति ॥

विद्याध्ययन से बुद्धि का विकाश होता है और मनुष्य में उदारता आती है, यही सुनते आए हैं; परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि आप के इन सामाजिक विद्वानों का उदार-भाव उलटा संकुचित सा होता जाता है ।

२०

नैवं करिष्यामि वृथान्ननाशं
नैवं ग्रहीष्यामि धनं विवाहे ।
उच्चैरिति त्वं परिषत्सु नित्यं
करोषि भूदेव ! दृढां प्रतिज्ञाम् ॥

" हम बहार में अब कभी इतनी पूरी नष्ट न करेंगे; कची के दिन कभी इतना भात व्यर्थ न परोसेंगे; विवाह में मोल तोल करके कभी अधिक द्रव्योपार्जन की इच्छा न करेंगे " इस प्रकार, हे ब्राह्मण देवता ! आप अपनी सभाओं में सदैव लम्बी चौड़ी प्रतिज्ञा, जोश में आकर, किया करते हैं ।

२१

परन्तु तत्तन्नियमावलीनां
निवेश्य पत्रं गृहपेटिकायाम् ।
उपस्थिते विप्र ! विवाहकाले
सर्वं क्षणाद्विस्मरसीति चित्रम् ॥

परन्तु, विवाह के समय उन सारे नियमों के काग़ज का बंडल घर के भीतर किसी मज़बूत सी सन्दूक़ में बन्द कर (और ऊपर से उसमें ताला भर) हे विप्र जी ! आप उन सब बातों को एक क्षण में भूल जाते हैं। आप का अजब हाल है।

२२

अध्यक्षतां, किं बहुना, त्वदीयां
गृह्णन्ति ये तेऽपि तदा पलाय्य ।

स्वलम्बिलाङ्गूलमितस्ततश्च
गूहन्ति भीता इव भो द्विजेन्द्र !

हे ब्राह्मणों के इन्द्र ! अब अधिक और क्या आप से कहें ? आप की अध्यक्षता को जो ग्रहण करते हैं वे भी, विवाह काज उपस्थित होने पर, अपनी लम्बी दुम को, भयभीत की भाँति, इधर उधर, छिपाते फिरते हैं ।

२३

अपव्ययस्ते भवति द्विजेश !
किं नातिनिन्द्यव्यसनेषु नित्यम् ?
परं स्थिते सर्वसमाजकार्ये
पुरस्त्वमङ्गुष्ठशिरः करोषि ॥

हे विप्रराज ! अनेक निंद्य व्यसनों में प्रतिदिन क्या आपका वृथा व्यय नहीं हुआ करता ? कुछ न कुछ हुआ ही करता है । परन्तु समाज का काम पड़ने पर आप अंगूठे ही को आगे करते हैं !

२४

त्वयि प्रसन्ने च तथाऽप्रसन्ने
हानिः समाना भवति द्विजानाम् ।
तुष्टः समाकर्षसि वित्तराशिं
रुष्टो व्यथां त्वं हृदये ददासि ॥

आप जब अप्रसन्न होते हैं तब आप के वर्गवाले ब्राह्मणों की हानि होती ही है (कन्या के लिए वर मिलना मुशकिल हो जाता है) परन्तु विचित्रता यह है कि, आप के प्रसन्न होने से भी उनकी हानि होती है । देखिए—सन्तुष्ट होकर आप अपने सम्बन्धियों के यहां से रुपए की खींच करते हैं और रुष्ट होकर, हृदय को, अपने कुटिलचारण से दुःख देते हैं ।

२५

मृगेन्द्रतां यल्लभते बलेन
सिंहो वने, तत्तु यथार्थमेव ।
कुतस्तदा विप्र ! वदत्वमेव
महीसुरेन्द्रत्वमिदं त्वयाप्तम् ?

जंगल में, जंगली जीवों के बीच, सिंह, अपने पराक्रम से मृगेन्द्र कहलाता है—सो तो यथार्थ है; परन्तु विप्रजी ! आप यह तो बतलाइए कि, " कान्यकुब्जा द्विजाः श्रेष्ठाः " यह जो आप अपने ब्राह्मणेन्द्रत्व का विधायक मन्त्र जपा करते हैं, वह कहां से आया; आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ किस प्रकार हुए ?

२६

का नाम सन्ध्या ? प्रणवोऽपि सम्यङ्
नोच्चार्यते ते स्वजनैरनेकैः ।
महीसुरश्रेष्ठ ! बलात्तथापि
स्वश्रेष्ठतां त्वं विजहासि नैव ॥

सन्ध्या की कौन कहे आप के अनेक वंशज प्रणव भी ठीक ठीक नहीं उच्चारण कर सकते, परन्तु, तिस पर भी, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! आप ज़बरदस्ती अपनी श्रेष्ठता को नहीं छोड़ते !

२७

तदस्ति किं त्वं कथय द्विजेन्द्र !
मूर्खोऽपि सन्स्थापयसीह येन ।
निजोच्चतामन्यमहीसुरेभ्यः
स्वगोत्रजेभ्योऽपि विवाहकाले ॥

द्विजेन्द्र जी ! आप यह तो बतलाइए कि, वह कौन सी चीज़ आप के पास है, जिसके कारण, विवाह काल में, मूर्ख होकर भी, आप अपने ही गोत्रवाले और ब्राह्मणों से, अपने को उच्च स्थिर करते हैं ?

२८

यशः पवित्रं निजपूर्वजानां
विभाव्यते किं भवता सगर्वम् ?
निवेदय त्वं शपथेन तेषां
के के गुणा आत्मनि संगृहीताः ॥

क्या आप अपने पूर्वजों के पवित्र यश का विचार करके गर्व से फूल उठते हैं ? अच्छा, क़सम पर कहिए तो सही, उन लोगों के कौन कौन से गुण आपने ग्रहण किए हैं ?

२९

त्वं नाममात्रग्रहणेन तेषां
श्रीहर्षमिश्रादिमहाजनानाम् ।
समीहसे पूज्यपदं ग्रहीतु—
महो विमोहस्य विजृम्भणं ते !

हम अमुक घराने के हैं–इस प्रकार केवल नाम मात्र का उच्चारण करके, आप, श्रीहर्षमिश्र आदि महात्माओं की पूज्य पदवी को पाने की इच्छा करते हैं ! शाबाश !! आप का मोह इतना उद्दंड !!!

३०

आस्ते यथोक्तैव दशा त्वदीया
तथापि केचिद्भुवि कान्यकुब्जाः ।
सन्त्येव शुद्धाचरणाश्च येषां
सन्दर्शनं पुण्यकरं नराणाम् ॥

आपकी दशा तो वैसीही है जैसी ऊपर वर्णन हो चुकी; तथापि ऐसे भी कोई कोई शुद्धाचरणवाले कान्यकुब्ज महात्मा पड़े हैं जिनके दर्शन मात्र से पुण्य होता है ।

३१

आस्तामिदं तत्तव लीलयाऽलं
पारं व्रजेत्कः कथनेन तस्याः ?
अतोऽधुना साञ्जलिबन्धमेत—
द्यदुच्यते तच्छृणु भूसुरेन्द्र !

अच्छा अब इसे जाने दीजिए । आपकी लीला का वर्णन हम यहीं समाप्त करना चाहते हैं । भला कौन ऐसा पराक्रमी है जो उसका सविस्तर वर्णन करके उसके पार तक पहुँचने में समर्थ हो ? हे भूमिदेव ! हमारी अब आप से हाथ जोड़ कर यह प्रार्थना है कि, जो कुछ हम आगे कहते हैं, उसे कृपापूर्वक आप सुन लीजिए ।

३२

दिनानि ते तानि गतानि, नातः
शुष्काभिमानेन सुवंशजेन ।
भविष्यति त्वत्कुशलं कदापि ;
विचिन्तयान्तः करणे त्वमेव ॥

कहना यही है कि, आप के वे पहले दिन गए । उच्चकुल में पैदा होने के शुष्क अभिमान को आप, अब जाने दीजिए । ऐसा न करने से आप कदापि अपनी कुशल न समझें । आप अपने अंतः करण में विचार करके देखिए, इसी में आप की भलाई है ।

३३

त्यजालसं, शीलय विप्र ! विद्यां ,
विधेहि दुष्टव्यवहारनाशम् ।
उदारतां बन्धुषु दर्शय त्वं ,
कुरुष्व कार्यं सुजनादृतं च ॥

विप्र जी ! आप आलस्य छोड़िए, विद्या पढ़िए, बुरे बुरे व्यवहारों की 'इति श्री' कीजिए, अपनी ज्ञातिवालों के ऊपर अधिक उदार हूजिए, और भले आदमी जिस-काम को अच्छा कहते हैं उसे करना सीखिए ।

३४

महत्वमायाति हि मानवेषु
सुविद्ययैवात्र मनुः प्रमाणम् ।
मन्दादरस्तद्वचने यदि त्वं
तदा न किं हन्त हतः स्वधर्मः ?

भली भाँति विद्याभ्यास करने ही से मनुष्यों को महत्व प्राप्त होता है । इस में प्रत्यक्ष मनु जी प्रमाण हैं । यदि आप उनके भी वचन का निरादर करेंगे तो हाय ! हाय ! हम समझेंगे, हमारा धर्म आज ही रसातल को चला गया !

३५

मत्संमुखेऽसौ (किल) कः पदार्थो
विभावनेयं भवतश्च माऽभूत् ।

यदस्ति किञ्चिद्वचने मदीये
ग्राह्यं, गृहाण, त्यज सर्वमन्यत् ॥

"छोटे मुहँ बड़ी बात करने वाला हमारे सम्मुख यह क्या वस्तु है"? इस प्रकार आपको कभी न कहना चाहिए। जो कुछ हमने आप से विनय किया उसमें, यदि कुछ भी आपके ग्रहण करने के योग्य है तो, उसे ले लीजिए और शेष सब जाने दीजिए।

३६

त्वत्कीर्तिगाने, चरितामृतस्य
पाने, रता विप्र! पुराविदोऽपि।
जानन्ति के नो तव सप्रमाणं
यशः पुराणादिषु वर्ण्यमानम्?

हे विप्रदेवता! आपकी कीर्ति के गाने और आपके चरितरूपी अमृत के पान करने में पुरातन ऋषि भी निमग्न रहे हैं। पुराणादिकों में प्रमाणपूर्वक वर्णन किए गए आपके यश को कौन नहीं जानता? सभी जानते हैं।

३७

न विस्मरातश्चरितं पवित्रं
शाण्डिल्यकात्यायनकाश्यपानाम्।
अद्यापि विद्याविभवेन येषां
विभूष्यते भारतभूमिखण्डः॥

अतएव शांडिल्य, कात्यायन, काश्यप आदि अपने पूर्वजों के पवित्र चरित को आप न भूल जाइए। देखिए; इन महात्माओं की अप्रतिम विद्या इस भारतवर्ष देश को अब तक आभूषित कर रही है।

३८

किं विस्तरेण बहुनेति हृदि प्रधार्य
हे कान्यकुब्जमहिदेव! नमस्करोमि।

स्वस्यैव मामपि कुलस्य करीररूपं*
जानीहि सादरमयं विनयो मदीयः ॥

" बहुत विस्तार करने से क्या लाभ है " ? इस प्रकार मन में विचार कर, हे कान्यकुब्ज महाराज ! हम अब आप को नमस्कार करते हैं। आदरपूर्वक आप से यही एक हमारा विनय है कि, आप हमें भी अपने ही वंश का एक अति छोटा अंकुर समझिए। बिलकुलही निकाल बाहर न कीजिए।

समाचारपत्रसम्पादकस्तवः।

(संस्कृतचन्द्रिकायाः षष्ठखण्डस्य द्वितीयसंख्यायां प्रकाशितः)

१

देशोपकारव्रतधारकाय
नानाकलाकौशलकोविदाय।
निःशेषशास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिर्ममाऽस्तु ॥

देशोपकाररूपी व्रत जिसने धारण किया है; नाना प्रकार के कलाकौशलमें जो कुशल है; समस्त शास्त्रोंमें जिसने दीक्षा ग्रहण की है-ऐसे सम्पादकको हमारा नमस्कार है।

२

पत्रे स्वकीये जगदेकनेत्रे
शिशुं त्रिपादं त्रिशिरस्करञ्च।
सृजस्यजस्रं कुतुकेन तेन
सम्पादक ! त्वं चतुराननोऽसि ॥

सारे संसारके नेत्ररूपी अपने पत्रमें तीन पैर, तीन सिर, तीन हाथके लड़के (इत्यादि) की अपूर्व सृष्टि आप कुतूहलसे रचते हैं अतः हे सम्पादकजी ! आप ब्रह्मदेव हैं।

* वंशांकुररूपमित्यर्थः।

३

आकृष्टुमुच्चैर्निजपत्रमूल्यं
नवोपहारादिविधेर्विधाने ।
समस्तमायाविशिरोमणित्वात्
त्वमेव सम्पादक ! माधवोऽसि ॥

अपने पत्रका मूल्य वसूल करनेके लिये नाना प्रकारके उपहारोंका विधि-विधान करनेमें समस्त मायावी जनोंको आप मात करते हैं; इस लिये, हम आपहीको (माया-मय) विष्णु भगवान् जानते हैं।

४

स्वदोषराशिञ्च तृणं विधाय
त्रुटिं समालम्ब्य लघुं परेषाम् ।
अलेख्यलेखैः कृतकालनाशात्
त्वमीश्वरो भीमभयङ्करोऽसि ॥

अपने दोषोंके ढेरको तृणवत् देखकर, दूसरोंकी अत्यल्प त्रुटिके ऊपर, जिन्हें लिखते लज्जा आती है, ऐसे लेख लिखकर, आप कालनाश करते हैं; अत एव आप (कालके नाश करनेवाले) भयङ्कर महादेव हैं।

५

सम्पादक ! त्वत्कृपयैव लेखा
निंद्या अपि स्थानमवाप्नुवन्ति ।
बुधाऽऽदृतास्तेऽपि भवन्ति हेयाः
सकोपदृक्कोणकटाक्षपातात् ॥

सम्पादकजी ! आपकी कृपाहीसे निंद्यभी लेख (आपके पत्रमें) स्थान पाते हैं और आपहीकी कुपित दृष्टिकटाक्षसे, विद्वानोंसे आदर किये गये भी लेख निंद्य हो जाते हैं।

६

त्वं लेखनीं पाणितले निधाय
विराजसे वीर ! यदाऽऽसने स्वे ।

३

आकृष्टुमुच्चैर्निजपत्रमूल्यं
नवोपहारादिविधेर्विधाने ।

धि-विधान
को (माया-

ऊपर, जिन्हें
त एव आप

स्थान पाते
ाये भी लेख

विराजसे वीर ! यदाऽऽसने स्वे ।

सुरेन्द्रसिंहासनमप्यचिन्त्यं
तदाऽतिगर्वेण तिरस्करोषि !

हे वीर ! जिस समय, आप अपने हाथमें लेखनीको लेकर अपने आसनपर आसीन होते हैं, उस समय इन्द्र के अचिन्त्य सिंहासनको भी गर्वातिशयसे आप तुच्छ समझते हैं।

७

गृह्णासि सम्पादकतां यदैव
तदैव शास्त्राणि सविस्तराणि।
भाषाः समस्ताः सकला कलाश्च
त्वां त्वद्भयेनेव समाश्रयन्ति ॥

आप ज्योंही संपादकताको ग्रहण करते हैं त्योंही सारे शास्त्र, सारी भाषा और सारी कला मानों आपके डरसे आपका आश्रय लेती हैं।

८

अहो ! विचित्रं तदतीव भाति
सम्पादकत्वेन सहैव यत्ते।
आयाति शक्तिर्मनसि क्षणेन
नानानवीनौषधिकल्पनायाः ॥

एक बात यह अति विचित्र जान पड़ती है कि संपादकत्व के साथही, क्षणमात्र में, आपके हृदय में नाना प्रकारकी नवीन औषधियोंकी कल्पना करनेकी शक्ति आजाती है।

९

पत्रेषु सम्प्रेषितपुस्तकानां
नामैव गृह्णन् विदधासि मौनम्।
आलोचनामन्यकृतां तथाऽपि
रम्यामपि त्वं किल धिक्करोषि !

भेजी हुई पुस्तकोंका अपने पत्रमें नाम मात्र देकर आप मौन धारण करते हैं, तथापि औरकी की हुई अच्छी भी समालोचना आपके मन नहीं भाती।

१०

विज्ञप्तिमेतां शृणु मामकीनां
वदामि सम्पादक ! ते हिताय ।
परस्य सत्पुस्तकपत्रकेभ्यो
मा, मैव गुप्तं विषयान् हर त्वम् ॥

हमारी एक विज्ञप्ति आप अवश्य सुन लीजिये; हम आपके अच्छेके लिये कहते हैं। संपादकजी ! आप छिपे २ औरोंकी पुस्तक और पत्रोंसे विषय न-कभी न-चुराया कीजिये।

११

टाइम्समुख्यानि जयन्तु तानि
पत्राणि येभ्यः परिगृह्य वार्ताः ।
त्वमन्यदानोदरपूरकस्य ,
प्राणान् स्वपत्रस्य सदैव पासि ॥

दूसरोंके दानसे उदर पूर्ण करनेवाले अपने पत्रके प्राण, जिनसे समाचार चुन चुनकर, आप पालते हैं, वे टाइम्स इत्यादि पत्र जीतें रहे ॥

१२

नम्रोऽसि मूल्यग्रहणे, च मौनी
पत्रोत्तरे, दोषनिदर्शने स्वे ।
रूष्टः, कुतो नीतिविदो वद त्वं
विलक्षणा नीतिरियं गृहीता ?

आप मूल्य लेनेमें नम्रता दिखाते हैं; पत्रका उत्तर देनेमें मौनावलम्बन करते हैं; और अपने दोष दिखलाये जानेपर रुष्ट होते हैं। अच्छा कहिए तो सही किस नीतिविशारदसे आपने यह विलक्षण नीति सीखी है ?

१३

अभद्रभद्रौषधिपुस्तकानां
विक्रेतृवर्गः समवाप्य सम्यक् ।

विज्ञापनद्वारमलभ्यलाभं
प्राप्नोति सम्पादक ! ते प्रसादात् ॥

हे सम्पादकजी ! आपहीके प्रसादसे भली बुरी ओषधियों और पुस्तकोंके बेचनेवाले (आपके पत्रमें) विज्ञापनरूपी द्वारको पाकर अलभ्य लाभ उठाते हैं।

१४

इहास्ति साधुत्वमतः परं किं ?
प्रकाश्य लोकस्य विमाननां यत् ।
स्थिते भये पाणियुगं प्रसार्य
'क्षमस्व, हा हेति' च भाषसे त्वम् ॥

इससे अधिक और क्या साधुता हो सकती है कि, आप पहिले तो अपमानजनक लेख छापकर लोगोंका अपमान करते हैं (और पश्चात्) भय उपस्थित होनेपर, हाथ जोड़ "क्षमा कीजिये, हम हाहा खाते हैं" इस प्रकार आप कहते फिरते हैं।

१५

गायन्ति सम्पादकतागुणानां
लीलां यथाशक्ति महाजनास्ताम् ।
स्वातन्त्र्यविद्याबलवर्धनानि
सर्वाणि यच्छक्तिविजृम्भणानि ॥

स्वतन्त्रता, विद्या, बल आदि सभी जिसकी शक्तिका प्रताप है, ऐसी संपादकतरके गुणोंकी लीलाको बड़े बड़े महात्मा भी यथाशक्ति गान करते हैं।

१६

अतोऽन्वहं भक्तिभरान्वितोऽहं
कीर्तिं त्वदीयां किल कीर्तयामि ।
ममोपरीदं स्तवनं निशम्य
प्रसीद सम्पादक ! सर्ववंद्य ॥

अतएव, प्रतिदिन, हम भी भक्तिभावपूर्वक आपकी कीर्ति का कीर्तन करते हैं; इस स्तोत्रको सुनकर हे सर्ववंद्य सम्पादकजी ! आप हमपर प्रसन्न हूजिये।

नागरी ! तेरी यह दशा !!

(जून १८९८ की नागरीप्रचारिणी पत्रिका मे प्रकाशित)

१

श्रीयुक्त नागरि ! निहारि दशा तिहारी ,
होवै विषाद मन माहिं अतीव भारी ।
हा ! हन्त लोग कत मातु तुम्हैं बिसारी ,
सेवैं अजान उरदू उर माहिं धारी ॥

२

माता त्वदीय शुचि संस्कृत देववानी ;
वर्णावली तव मनोहर रूपखानी ।
अत्यन्त शुद्ध लिपि होति सदैव तेरी ;
थोरेप्रयास महँ सिद्धि सधै घनेरी ॥

३

अत्यल्प बालकहु मास गए छ, साता ,
होवैं प्रवीण सिखि, तोहिं छिपी न बाता ।
मूढ़ातिमूढ़ जिन दीख न पाठशाला ,
तेऊ पढ़ैं तुहिं बिना श्रम सर्वकाला ॥

४

एतादृशी सरल, सुन्दर, शुद्ध, सोई ,
तू नागरी जननि ! जानत सर्व कोई ।
तौहू तुम्हैं चहहिं जे न जड़त्वपागे ,
ते कामधेनु तजि आक दुहैं अभागे ॥

५

तेरी समान रुचिरा, सरला, रसाला ,
शोभायुता, सुमधुरा, सगुणा, विशाला ।

भाषा न अन्य यहि काल अहो दिखाई ;
बोलैं निशङ्क हम यों स्वभुजा उठाई ॥

६

श्रीसूरदास, तुलसी अरु ख़ानख़ाना ,
क्षेमेन्द्र, केशव, कवीन्द्र, कवीश नाना ।
छायो दिगन्त यश जो इन को अपारा ;
सो हैप्रसाद तव नागरि ! देवि ! सारा ॥

७

पद्मावती जिन रची ललिता, ललामा ,
विख्यात जे अपर क़ादिर आदि नामा ।
इस्लाम जाति; तउ कै तिन मातु तोरी
आराधना, सुयशराशि घनी बटोरी ॥

८

सन्मान्य ग्राउज़ कलेक्टर सु-प्रधाना ,
श्रीमद्ग्रियर्सन समाऽन्य महा महाना ।
सेवा त्वदीय करि मातु लही बड़ाई ;
कीर्ति-ध्वजा धरणि पै अपनी उड़ाई ॥

९

अन्यान्य जातिजनहू बनि भक्त तेरे ;
गावैं त्वदीय गुण नित्य नए घनेरे ।
तौ जो तिहारि हम सर्व करैं न पूजा ;
हा ! हा ! अनर्थ नाहिं या सम अन्य दूजा ॥

१०

भ्राता, पिता, सुत, सुता, दयिता सुशीला ,
त्यागैं मनुष्य कहँ देखि विपत्तिलीला ।

पै प्राणनाश यदि होहि तऊ न माता
होवै वियुक्त सुत तें विलगाय गाता ॥

११

मातामुमत्व जस वेदपुराण भाखा,
तत्तुल्य है अपर केवल मातृभाषा ।
आजन्म जो विमुख, ताहु विपत्ति माँहीं,
आवै सदैव मुख में सुइ, अन्य नाहीं ॥

१२

हिन्दी ! दयालु इतनी तुम हाय ! ताही,
हिन्दू तजैं यदि अकारण, दोष काही ?
दुर्भाग्य—दण्ड—हत—बुद्धि—विवेक जाई ;
होवै परन्तु दुख देखि कृतघ्नताई ॥

१३

न्यायालयादि महँ लेखकवृन्द बाढ़ी,
हस्त—प्रलम्ब—परिमाण हिलाय डाढ़ी ।
देखो, अहो ! कुलिशकर्कश शब्द भाखैं,
मानापमान तव ते मन में न राखैं ॥

१४

" देशोपकार करिबे " इमि बोलि, बीरा
लै, लाङ्ग लेक्चर उड़ावत जे प्रवीरा ।
त्वन्नाम ते सुनत कोसन दूरि भागैं ;
पत्रादि हू लिखन में तुहिं नाऽनुरागैं ॥

१५

शांडिल्य आदि मुनि-नायक-वंश-धारी,
हृत्कम्प होहि सुनि नागरि ! तोहिं टारी ।

हा ! हन्त ! पुत्रकर माहिं धरैं करीमा ;
लज्जा न आव तनिकौ तिनके हिए मा ॥

१६

जाके प्रचार बिनु लाखन लोग धाई ,
लै लै समन्स बहु ढूंढ़त गांव जाई ।
पावैं तऊ न तिन बाञ्चन-हार, भाई !
ताते, भए विमुख तासन, का भलाई ?

१७

जाके बिना कचहरीघर लोग घेरे ,
ताकैं परारि मुख जाय बड़े सबेरे ।
न प्रेम तासु जिनके मन माहिं जागै ,
हा ! हा ! विलोकि तिन पातकपुञ्ज लागै ॥

१७

जाको लिखैं सहज बालक, वृद्ध, नारी ;
जामे न भूल इक बिन्दु—विसर्ग—वारी ।
सद्धर्म जासु परिशीलन मे सदाहीं ;
ताकी करैं स्तुति कहां लगि ? शक्ति नाहीं ॥

१९

देखो ! स्वदेश-नर-रत्न ! करो विचारा ;
सत्कार नागरिहि केर करे उबारा ।
हे ! हेलना न करि तासु, सुनौ पुकारा ;
कीन्हे विलम्ब बिगरै निज काज सारा ॥

२०

कल्याणि ! नागरि ! इती विनती सुनीजै ;
माता ! दयावति ! दया न कमी करीजै ।

ह्वै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी ;
सेवा अवश्य करि हैं अब सर्व तेरी ॥

२१

सप्रेम, जोरि कर, तोहिं मम प्रणामा ;
त्वद्भक्त जे कहुँ कहूं चमकैं सुनामा ।
मेरो नमोऽस्तु तिनहूँ कहँ बार बारा ;
ते धन्य, धन्य कुलदीप कृतोपकारा ॥

सूर्यग्रहणम् ।

(संस्कृतचन्द्रिकायाः षष्ठखण्डस्य तृतीयसंख्यायां प्रकाशितम्)

१

अत्यन्तभीषणरणो दिशि पश्चिमायां ;
हृत्कम्पकारि महिकम्पनमेव पूर्वे ।
याम्ये तथा मनुजमारकरोगपीडा
प्रादुर्बभूव नितरां युगपद्यदैव ॥

पश्चिम की ओर अत्यन्त भीषण युद्ध; पूर्व की ओर हृदय को कंप उत्पन्न करने वाला भूकंप; तथा दक्षिण की ओर मनुष्य संहारकारिणी महामारी की पीड़ा-यह सब एकही साथ जिस वर्ष हुआ ।

२

वेदेषुखंडशशिसूचितवैक्रमीये
संवत्सरे, जनपदेऽत्र तदैव येयम् ।
दृष्टा जनैर्नभसि संघटनाऽद्भुता, तां
मित्रानुरोधवशतो ननु वर्णयामि ॥

विक्रमादित्य के उसी वर्ष अर्थात् १९९४ सम्वत् मे, यह जो अतीव अद्भुत घटना, आकाश मे, यहां, लोगों को देख पड़ी, उसे हम अपने एक मित्र के अनुरोध से वर्णन करते हैं ।

३

* शीततुंमध्यगतमञ्जुलमाघमासे ,
मध्येदिनं दिनकरस्यतनूममायाम् ।
आच्छादयिष्यति शशी नियतं निजेन
बिम्बेन तूर्णमिति पूर्णतया निरूप्य ॥

शीतकाल में, माघ महीने की अमावास्या के दिन, मध्यान्ह समय, चन्द्रमा, अपने बिंब से, अवश्यमेव, झटपट, सूर्य को आच्छादित कर लेगा-इस बात का भली भांति निरूपण करके--

४

तद्दर्शनाय विदुषामवलिः समन्ताद्
द्वीपान्तरादपि चचाल विलंघ्य सिन्धून् ।
नानाविधानि परिगृह्य बुधस्तुतानि
यंत्राणि सूर्यविधुबिम्बपरीक्षकाणि ॥

सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब की परीक्षा करने में उपयुक्त होने वाले, विद्वज्जनों के द्वारा प्रशंसा किए गए, नाना प्रकार के यंत्रों को लेकर, अनेक विद्वान, समुद्रों का उल्लंघन करके, द्वीपान्तरों से भी, उस दृश्य के देखने के लिये चले।

५

विज्ञानशास्त्रकुशला विबुधा अनेका ,
उच्चोच्चराज पुरुषा अपि गौरकायाः ।
सिद्धिं विधाय रविवीक्षणसाधनानां
तस्थुर्यदा वसनवेश्मनि बक्सरादौ ॥

विज्ञानशास्त्र के पारदर्शी अनेक विद्वान् तथा उच्च पदाधिकारी अंगरेज़ लोग, सूर्य को अवलोकन करने के साधनों को सिद्ध करके, जिस समय, बक्सर आदि स्थानों में, अपने अपने खीमे के नीचे, ठहरे—

६

पूर्णोपरागमथ पङ्कजबान्धवस्य
ज्ञात्वा तदा भुवि चिरेण भविष्यमाणम् ।

* २२ जनवरी १८९८ ।

लौकैरकारि कृतभारतवर्षवासै—

यैयद्वदामि तदहं नियतैर्वचोभिः ॥

उस समय, बहुत काल के अनन्तर होने वाले, खग्रास सूर्य ग्रहण का समाचार पाकर, हमारे भारतवर्षवासी लोगों ने जो कुछ कहा अथवा किया उसे हम संक्षेप से वर्णन करते हैं।

७

युद्धं भविष्यति नृपेषु परस्परेषु ;

लोकं गमिष्यति यमस्य रुजा प्रजा च।

धान्यं धनं बहु हरिष्यति चौरवर्ग ;

इत्यादि कैश्चिदिह सूरिभिरन्वभाषि ॥

राजा लोगों मे परस्पर युद्ध होगा; रोग से मनुष्य यमपुरी को पधारेंगे; चोर, धन और धान्य दोनों की अतिशय चोरी करेंगे; इस प्रकार किसी किसी प्रसिद्ध पंडित ने भविष्य वाणी कही।

८

तत्तन्निशम्य सहसा मनुजाः सशङ्क—

स्पञ्चाङ्गवाचकजनानभिवन्द्य केचित्।

दैवज्ञराज ! वद राशिफलं मदीय—

मेवं विरक्तमनसाऽञ्जलिवन्धमूचुः ॥

जिसे सुन सुन, सशंक होकर, बहुतेरे मनुष्य, पंचांगपाठी पंडितों को प्रणाम करके, हाथ जोड़, विरक्तचित्त होकर इस प्रकार बोलेः—'ज्योतिषी जी, ! जरा हमारा राशिफल तो कहिए; हमारे लिए ग्रहण कैसे हैं ?'

९

अन्नांशुकद्रविणदानविधानमाशु

दोषक्षयाय परिपृच्छय बुधाँश्च केचित्।

उद्योगिनः समभवन् खलु तत्तदाप्तौ ;

नास्त्यालये, तदपि देयमवश्यमेव ॥

ग्रहणजात दोष का परिहार करने के लिए, धन, धान्य और वस्त्रादि के दान

की विधि को पंडितों से पूछ कर, उन उन वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्योग में बहुतेरे लगगए ! घर में तो है नहीं, परन्तु देना अवश्य है !

१०

दैवज्ञमेव शरणं शिरसा नतेन
केचित् फलानि भयदानि निशम्य जग्मुः ।
केनाऽपि पंडितपते ! परिपाहि नस्त्वं
यत्नेन, वाक्यमिति दीनतमं न्यवेदि ॥

'पंडित जी ! अबतो आपही किसी प्रकार हमारी रक्षा कीजिए' इस प्रकार दीनता दिखलातेहुए बहुतेरे मनुष्य, भयंकर फलों को श्रवण करके, सिर झुकाय, ज्योतिषीही जी की शरण गए ।

११

भानूपरागकृतभाविमहर्घतायाः
संचिन्तनेन विवशाः कतिचिद्बभूवुः ।
अन्नं विनाऽस्मदसवः कथमीश ! हा हा
स्थास्यन्ति दुर्विलसिता इति संविलप्य ॥

'हे ईश्वर ! यह हमारे पापी प्राण विना अन्न के हा ! हा ! कैसे रहेंगे ?' इस प्रकार विलाप करके, सूर्य ग्रहण के कारण होने वाली महँगी का विचार कर, बहुतेरे, अतिशय विवश दशा को प्राप्त हुए ।

१२

तत्तत्स्थलस्थितमहीसुरवल्लभानां
गेहेषु दत्तधनमाशु निवेषणाय ।
काशीप्रयागमथुराकुरुपुष्करादि—
तीर्थानि चेलुरतिभक्तिभरेण केचित् ॥

उन उन स्थानों के ब्राह्मणों की प्रियतमाओं के घर में अपने दिएहुए धन को, झटपट, पहुँचा देने के लिए, बहुतेरे मनुष्य, बड़ी भक्ति के साथ, काशी, प्रयाग, मथुरा कुरुक्षेत्र, पुष्कर इत्यादि तीर्थों को चले ।

१३

काश्चित्तथा सुनयनाः सुरनिम्नगादि—
स्नानच्छलेन युवकैः सह सङ्गमाय ।
ईयुर्मनोरथशतं हृदि धारयन्त्यः
संकेतितस्थलमनङ्गनिपीडिताङ्ग्यः ॥

अनेक कामपीडित, सुलोचनी कामिनी, नाना प्रकार के मनोरथों को धारण करती हुई, गंगास्नादि के बहाने, युवकों से मिलने के लिए, संकेत किए गए स्थलों पर पहुँचीं ।

१४

केचिद्वधूवदनचन्द्रविलोकनाय
केचिद्धनस्य हरणाय परस्य, केचित्
कूले ययुर्ग्रहणादुष्परिणामदुःख—
नाशाय सन्निकटवर्तिजलाशयस्य ॥

बहुतेरे बधूजनों के मुखचन्द्र को देखने के लिए, बहुतेरे दूसरों के माल मारने के लिए और बहुतेरे ग्रहण के दुष्परिणाम को मिटाने के लिए, समीपवर्ती जलाशय के किनारे उपस्थित हुए ।

१५

येऽस्मद्विधा विधिवशान्ननु किंचिदन्यत्
शक्ता न कर्तुमथ ते स्वकरे गृहीत्वा ।
काचस्य कज्जलितपृष्ठतलस्य खंड—
मुच्चस्थले बहुभिरात्मजनैर्विरेजुः ॥

हमारे समान जो लोग और कुछ नहीं कर सके, वे एक ओर काजल से काले किए गए काच के टुकड़े को हाथ मे लेकर, किसी ऊंची जगह पर, अपने आत्मीयजनों के साथ, पहुँचे ।

१६

यस्मिन् क्षणे चपलतातिशयेन चन्द्र
उत्प्लुत्य मेघवदधः स्थलतश्चकार ।

स्पर्शं प्रमाणितदिने दिवसेशबिम्ब—
स्तस्मिन् बभूव जनलोचनलक्षलक्ष्यः ॥

उस दिन, जिस समय, मेघ के समान, नीचे की ओर से, अति चपलता के साथ, यकदम, चन्द्रमा ने सूर्य के बिम्ब को स्पर्श किया, उस समय उसकी ओर मनुष्यों की लाखों आखें आकर्षित होगईं ।

१७

दृश्यं विलोक्य तदिदं किल कोऽपि नादः
संश्रूयते स्म भुवि लोककृतः समन्तात् ।
स्नाने, जपे, हरिहरस्मरणे, च दाने
सर्वेऽभवन् रुचिविचित्रतया निमग्नाः ॥

इस सूर्यग्रहण के दृश्य को देखकर चारों ओर से लोगों ने अतिशय कुलाहल करना प्रारम्भ किया और अपनी अपनी रुचि के अनुसार स्नान, जप, हरिहर स्मरण, दान इत्यादि मे सब लोग निमग्न होगए ।

१८

हंहो ग्रसत्यरुणमंडलमेष राहुः
पौराणिकैः खलु पुनः पुनरित्यभाणि ।
वैज्ञानिकैरपरबुद्धिविचक्षणैस्तु
सर्वैरमानि शशिचण्डकराऽभियोगः ॥

'देखो, राहु सूर्य मंडल का ग्रास कर रहा है' इस प्रकार पौराणिकों ने वारंवार प्रलाप किया; परन्तु विज्ञानशास्त्र के ज्ञाता तथा अपर बुद्धिमान जनों ने चन्द्रमा और सूर्य का योग मात्र निश्चित किया ।

१९

धर्मं प्रभो ! कुरु कुरु ग्रहणं प्रसक्तं ;
त्वं देहि देहि वसनञ्च, धनञ्च, धान्यम् ।
इत्यादि दीनवचनानि च याचकानां
केषां न कर्णकुहरे पतितानि तानि ?

'महाराज ! ग्रहण लगा है; धर्म कीजिए; धन, धान्य, वस्त्रादि जो जिससे हो सके दीजिए, दीजिए' इस प्रकार याचकों के दीन वचन, उस समय, किसके कान मे नहीं पड़े ?

२०

छायां करोति वियति स्म यदा यदेन्दुः
श्यामप्रभां वितनुते स्म तदा तदार्कः ।
आपत्सु दैवविनियोगकृतागमासु
धीरोऽपि याति वदने किल कालिमानम् ॥

आकाश में चन्द्रमा ने ज्यों ज्यों अपनी छाया बढ़ाई त्यों त्यों सूर्य ने श्यामता धारण की । दैवयोग से आई हुई आपत्ति के समय धैर्यवान पुरुषों के भी मुख पर कालिमा छाजाती है !

२१

कालक्रमेण शशिना निजनीलमूर्त्या
संच्छादनं कृतमियद्रविमंडलस्य ।
येनेह रत्नगिरिबक्सरशाहडोल—
ग्रामेषु तस्य समलोकि समस्तलोपः ॥

कुछ काल के अनन्तर चन्द्रमा ने, अपनी नील मूर्ति से, रविमंडल को यहां तक आच्छादित कर लिया कि रत्नागिरी, बक्सर और शाहडोल आदिक स्थानों में उसका (अर्थात् सूर्यमंडल का) पूरा पूरा लोप दृष्टिगोचर हुआ ।

२२

शुभ्रप्रकाशरहिते जगतीतलेऽस्मिन्
यल्लोहितातपरुचिर्ददृशे मनुष्यैः ।
तत्किं पुराणलिखितारुणराहुयुद्धे
जाते विधुन्तुदशिरोऽस्रनिपातजन्मा ?

शुभ्रप्रकाश रहित इस भूतल में, कुछ कुछ लाल रँग की जो धूप, उस समय, देख पड़ी वह क्या, पुराण प्रसिद्ध राहु और सूर्य के युद्ध होने से, राहु के सिर से निकले हुए रुधिर के गिरने से तो लाल नहीं होगई थी ?

२३

ग्रासं गते नभसि पूर्णतया ऽर्कबिम्बे
स्पष्टीबभूव भुवि कोपि तमिस्रपुञ्जः ।

आलोक्य कष्टमभितो महतां मलीनाः
स्वान्ते सदा समधिकां मुदमुद्वहन्ति ॥

आकाश मे सूर्य का पूरा पूरा लोप हो जाने पर, भूतल मे, अन्धकार ने खूबही अपना ज़ोर जमाया । ठीकही है; महात्माओं को विपत्तिग्रस्त देखकर मलीनान्तःकरण वाले दुर्जन अधिक प्रसन्न होते हैं ।

२४

सन्ध्याऽऽजगाम सहसा किमुतेत्यकाण्डे
वासेच्छुकं खगकुलं विरुतिं ततान ।
गावोऽपि गेहगमनोत्सुकतां दधानाः
पुच्छं प्रसार्य परितश्चलिता सशब्दम् ॥

' क्या अभी सायंकाल होगया ? इसप्रकार सशंक चित होकर अकालही में, अपने अपने घोसलों मे जाकर वास करने की इच्छा रखने वाले पक्षी बोलने लगे; और पशु भी घर जाने के लिए उत्सुक होकर, पूंछ उठा, चारों ओर से शब्द करते हुए चल पड़े ।

२५

खग्रासतामभजताऽर्क इति प्रदातुं
साक्ष्यं किमेष भगवानुशना मनुष्यान् ।
तस्मिन् क्षणे समुदियाय नभोऽन्तराले
यन्त्रं विनैव यदयं सकलैर्व्यलोकि ?

सूर्य का खग्रास ग्रहण होगया–इस बात की मनुष्यों को साक्षी देने के लिए वह क्या शुक्र महाराज उस समय नभोमंडल मे उदय हुए, जो सब लोगों ने उन्हें यन्त्रों की सहायता के विनाहीं दिन मे देख लिया ?

२६

एवं गते मयि महाविषमामवस्थां
कुर्वन्ति किं जगति सर्वजना इतीव ।
द्रष्टुं रविः पिहितबिम्बतटाऽभिजात—
ज्योतिश्छटाक्षिनिकरं बिभराम्बभूव ॥

इस प्रकार की विषम अवस्था को हमारे प्राप्त होने पर संसार मे सबलोग क्या कर रहे हैं—इस बात को देखनेंहीं के लिए मानो सूर्य ने छिपे हुए अपने बिम्ब के किनारे से निकली हुई ज्योतियों की छटारूपी आंखों को धारण किया।

२७

देदीप्यमानदहनव्रजभास्करस्य
साहाय्यमापदि विधातुमहो किमेषः।
वेगेन पश्चिमहरिद्वदनावलम्बी
वायुः क्षणं प्रवहति स्म तदा रुषेव ?

प्रचंड अग्नि के समूह सूर्य की, आपत्ति के समय, क्या सहायता करने के लिए (अग्नि का मित्र) यह वायु, पश्चिम दिशा की ओर, उस समय, बड़े वेग से, मानो क्रोध मे आकर, बहने लगा ?

२८

पूर्णग्रहस्य समये कतिचित्पलानि
विश्वो विशेषकपिशीकृत ईक्ष्यते स्म।
औदास्यभावमभजन् जनतामुखानि
स्तब्धा बभूवुरिह सर्वदिशो नितान्तम् ॥

पूर्णग्रहण के समय, कुछ क्षण तक, सारा संसार पिंगल वर्ण दिखाई दिया और स्तब्धतापूरित सब दिशाओं मे, मनुष्यों के मुख उदासीनता को प्राप्त हुए।

२९

चन्द्रस्ततो लघुतया निजया दिनेशात्
कक्षान्तरेषु गमनेन तदीयरोधम्।
कालक्रमेण विजहौ, तदनंतरं स
सूर्यो जगाम भुवि नेत्रपथं जनानाम् ॥

इसके अनन्तर, सूर्य से छोटा होने और कक्षान्तर मे गमन करने के कारण, चन्द्रमा ने क्रम क्रम से सूर्य का रोध छोड़ा। तब वह भूतल मे लोगों को दिखलाई दिया।

३०

खग्रासमाप खलु यः स दिवाकरोऽयं
स्वच्छे नभस्यतितरां महसा चकासे।

सम्पद्विपद्युगमिदं हि नितान्तलोलं
कुत्राऽपि नैव भजते स्थिरतां चिराय ॥

जिस सूर्य का अभी खमास होगया था वही स्वच्छ आकाश मे अब बड़े तेज से प्रकाशित हुआ। संपत्ति और विपत्ति का नितांत चंचल जोड़ा कहीं भी चिरकाल स्थिर नहीं रहता।

३१

लोकद्वये भवति यावदिदं समस्तं
विज्ञानशास्त्रपटुभिः समुपादितानि।
तावत्क्रमागतरविग्रहणस्य यन्त्रै—
श्चित्राणि चित्रफलकानि मनोहराणि॥

आकाश और भूतल मे जबतक यह सब होता है तबतक विज्ञान शास्त्र के पारंगत विद्वानों ने, क्रम क्रम से होनेवाले सूर्य ग्रहण के, यंत्र द्वारा, अनेक मनोहर छाया चित्र सम्पादन किए।

३२

आदित्यमोक्षमनुलक्ष्य ततो मनुष्याः
स्नानं विधाय विधिवद्गृहमागताः स्मः।
एतस्य च ग्रहणवर्णनगुंफितस्य
काव्यस्य पूर्तिरधुना क्रियते मयाऽपि॥

सूर्य के मोक्ष को अनुलक्ष्य कर के, तदनंतर, विधिवत् स्नानपूर्वक, सब लोग घर आए। अतः ग्रहण वर्णनात्मक इस काव्य की हम भी अब पूर्ति करते हैं।

३३

एतानि पद्यकुसुमानि मयार्पितानि
सन्त्येव यद्यपि गुणै रहितानि मित्र* !
भक्तिं विलोक्य मम तावदिमां तथापि
त्वं स्वीकुरुष्व बुधपूजितपाद ! तानि॥

हे बुधजनपूजित मित्र ! हमारे द्वारा अर्पित किए गए ये पद्य रूपी पुष्प, यद्यपि सब गुणों से रहित हैं; तथापि हमारी भक्ति को देखकर आप इन्हे स्वीकार कीजिए।

* 'मित्र' इति सम्बोधनेन श्रीमन्माधवराव व्यंकटेश लेले-यस्य सूचनेन इदं काव्यं कृतं स तथा च सूर्यस्याप्यर्थो ज्ञेयः।

बालविधवा-विलाप ।

(७ अक्तूबर १८९८ के भारतमित्र मे प्रकाशित)

१

आकाशमध्य रवि अंशु अनन्त धारी
देखो प्रदीप्त दिन मे तमपुञ्जहारी ।
ताराधिनाथ जनमानसमोदकारी
नक्षत्रयुक्त विलसै रजनीविहारी ॥

२

विद्युत्प्रकाश अनलोद्भवभास भारी
नाना नई विमलदीपशिखा सुखारी ।
तेजोमयी शुचि महामणिमूर्ति सारी
रत्नादिराशि महि माहिं घनी निहारी ॥

३

काहे तऊ अहह ! मोहिं महाऽन्धकारा
सर्वत्र सम्प्रति दिखाय अहो ! अपारा !
मत्प्रश्न हाय ! यह, जीवन के अधारा !
पापिष्ट हृत्पटल फारि करै दरारा !!

४

मेरे दिनेश तुमहीं, तुमहीं निशेशा,
तारादिहू तुमहिं नाथ ! रहे अशेषा ।
प्राणेश ! अस्त तव होतहि, लोक माहीं,
सारे प्रकाश मम अस्त भए लखाहीं ॥

५

गर्भप्रपात कत हा ! विधना न कीन्हा ?
काहे न जन्मतहि मो कहँ मृत्यु चीन्हा ?

रोगादिहू न अबलौं मम जीव लीन्हा ?
रे दैव निष्करुण ! दुःसह दुःख दीन्हा !!

६

वैधव्यजातदुखसम्मुख तीव्र आगी
है कः पदार्थ ? जरु देह ! अरे अभागी ।
हे प्राणनाथ ! नहिं सम्भव सोउ हा हा !
जानौं भले विधिविरुद्ध शरीरदाहा ॥

७

जो प्राण देहुँ जल मध्य करि प्रवेशा
पाशादि लाय अथवा करहुँ स्वशेषा ।
तौ आत्मघातकृतपातकपुञ्ज जोरी
हे नाथ ! होहि कुदशा अति और मोरी ॥

८

सूझै कछू यहि घरी अब नाहिं मोहीं ;
बूझै न अन्य हतचित्त विहाय तोहीं ।
जावौं कहां ? कह करौं ? किहि धौं पुकारौं ?
हे जीवितेश ! किमि धीरज चित्त धारौं ?

९

हे प्राण दुर्ललित ! खोजहु अन्य गेहा ;
दुःखाग्निदग्ध रहिहै न मदीय देहा ।
अद्यापि न त्यजहु मूढ ! मृषासुखाऽऽशा ;
देख्यौ न काह तुम हा ! मम सर्वनाशा ?

१०

को हौ, कहौ न कत, जीवित ! पापपूरे ?
पाषाण पूर्ण तुम हौ अथवा अधूरे ?

देवेन्द्रवज्र अतिकर्कश वा ? बतावौ ;
जावौ न जो दुख-दवारि-दहे, सतावौ ॥

११

देखी कहूं न विटपाश्रयहीन बेली
प्राचीन होहु अथवा अतिही नवेली ।
मैं मन्दभाग्य तिनतेऽधिक भूमि आई
आधारहीन जउ जीव तऊ न जाई ॥

१२

आलाप दूरि, परिरम्भण दूरि, अङ्ग—
स्पर्शादि दूरि, अरु दूरि निशि-प्रसङ्ग ।
देख्यो न हाय ! मुखहू तव नेत्र लाई
त्वन्नाम साथ तउ नाथ ! गई बिकाई ॥

१३

एतादृशी लखि दशा मम दुःखदाई
हा हा करैं निपट नीचहु धाय धाई ।
पै दैव ! तोहिं मम नेकु दया न आई
रे दुष्ट ! रे कुटिल ! रे शठ ! रे कसाई !

१४

तद्ग्रन्थिचिन्ह पट मे अजहूं दिखाई,
जाके मिष प्रणयबन्धन कीन आई ।
त्यागा, सु भूलि सब, हाय ! मदीय साथा ;
विश्वासघात अस तोहिं न योग्य नाथा ॥

१५

मद्दुःख देखि विधि ! जो करुणा न आवै
नैष्ठुर्यनीरनिधि ! मीचु न तू पठावै ।

तौ काह दुष्ट ! मम मातु विलाप भारी
छाती न फारि दुइ टूक करैं तिहारी ?

१६

बीतै निमेष इक कल्प समान मेरो
छूटै न जीव जिहि छूटतही निबेरो ।
सन्ध्या कटै यदि किहू, न कटै सबेरो
जावै वियोग अब नाथ ! सहो न तेरो ॥

१७

प्राणाधिक ! त्वदनुराग हिए जगाई,
राखौं शरीर यदि दारुण दुःख पाई ।
सारो समाज हठि निर्दयता दिखावै ;
हाहा ! मनौ क्षत भए पर लोन लावै ॥

१८

सौभाग्य जासु मम पूर्व सबैं सराहा,
सोई भई अब अमङ्गलमूल हा हा !
यामेऽपराध नहिं मोर कछू दिखाई ;
मस्तिष्क मे न यह नारिन के समाई ॥

१९

नारी करैं, करहिं सो, नरहू अनेका
देवैं अनाथ अबलान न सौख्य एका ।
देखैं विपत्ति जउ नित्य नई हमारी ,
होवैं दयार्द्र तउ ते न जड़त्वधारी ॥

२०

ह्वै साठिवर्षतन स्यन्दन † मे पधारी
ब्याहैं स्वयं सुभग बारहवर्षवारी ।

† पालकी ।

पै ज्ञानगीत हम काहिं अहो ! सिखावैं ;
के पक्षपात अस ते न हिए लजावैं ॥

२१

भावी दशा सुमिरि आपनि जीवितेश !
कांपै हियो अहह ! होहि न धैर्यलेश ।
देवैं जिते नरक पापिन धर्म्मराजा
मों को इतैहि मिलि हैं तिनके समाजा ॥

२२

अत्यन्धकारमय दुर्ग्रहगर्भ माहीं
होई निवास मम रैनि दिना सदाहीं ।
तत्रस्थ मूस, छिपकी अरु घूस केरी
ढेरी अभद्र बनिहै सखिरूप मेरी ॥

२३

उच्छिष्ट, रूक्ष, अरु नीरस अन्न खैहौं
चाण्डालिनीव मुख बाहर मूंदि जैहौं ।
गालि-प्रदान निशि वासर नित्य पैहौं
हा हन्त ! दुःखमय जीवन यों बितैहौं ॥

२४

" रंडे ! तुही अवशि मत्सुत लीन खाई "
त्वन्मातु नाथ ! जब तर्जिहि यों रिसाई ।
ह्वैहै इहै तब मदीय मताऽधिकाई
पृथ्वी फटै त्वरित जाहुँ तहां समाई ॥

२५

हे प्राणनाथ ! बिनु तोहिं हमारि हानी
जेती भई सकहिं नारि समस्त जानी ।

तौहू दुरुक्ति कहि या बिधि नीचताई
देहैं प्रकाश करि हाय ! हया विहाई ॥

२६

जो जाहि इष्ट तिहि नाश करै न कोऊ
अत्यन्त उच्च अथवा अति नीच होऊ ।
होवै प्रविष्ट इनके हतचित्त माहीं
सद्भाव हाय ! कत या विधि नाथ ! नाहीं ?

२७

ज्योंहीं कियो तुम हहा ! इतते पयाना
त्योंहीं हमैं सबहिं पातकमूर्ति माना ।
लोग प्रचण्ड-शनि-दृष्टि समान सौंहीं
त्यागैं सदैव शुभ कारज माहिं मोंहीं ॥

२८

ऐसो भयो कहहु मो सन कौन पापा ?
जो देहिं मोहिं सिगरे मिलि तीव्र तापा ।
आपै मरो जु तिहि मारन मे उछाहा !
अन्याय हाय ! इहि ते बढि और काहा ?

२९

वाणी सुहात नहिं मोरि, न दीठि मोरी,
ताने कहैं तिय, तथा शिशु, वृद्ध, छोरी ।
सासु प्रदत्त चरखा तजि और कोई
रैहै न पास दिन जैहहि रोय रोई ॥

३०

धोती मलीन तन, कज्जल हीन नैन,
सिन्दूरबिन्दु बिन मस्तक, दीनवैन ।

एरंड दंड सम हस्त, जटालु केश,
मद्देशवासि अस कौन मदीयवेश ॥

३१

एतेहु पै कतहुँ शिष्टसमाजरत्न
पावैं न मोद, कछु और करैं प्रयत्न ।
प्राणातिरिक्त जिनकी किय नित्य सेवा
काटैं कदर्य तिन केशनि हाय ! देवा ॥

३२

धिक्कार तोहिं हतभारतवर्षदेश !
धिक्कार सभ्यसमुदायहु निर्विशेष !
धिक्कार बुद्धिबलवैभव को हमेश ?
पावैं जहां निबल नारि इतो कलेश ॥

३३

ऐसे कछू प्रकट, गुप्त कछू, उचारी
भारी विलाप करि मस्तक भूमि मारी ।
शोकार्त बालविधवा तनताप जारी
हा ! हन्त !! हाय !!! कहि मुर्छि परी बिचारी ॥

३४

एहो समाजकुलदीप ! इती हमारी
विज्ञप्ति लेहु सुनि, दीनदशा निहारी ।
जो पै करौ न सधवा विधवान भाई !
दीजौ तृतीय दुख अन्य अहो ! नसाई ॥

५

धनी, निर्धनी हूं, जराजीर्णगाता ,
वटी, चूर्ण, लेहादि पुष्टि-प्रदाता ।
तव प्रेरणा पाय सेवैं सबेरे ,
बहावैं वृथा द्रव्य कन्दर्पचेरे ॥

६

ज्वरी, जन्मरोगी, क्षयी, क्षीणदेहा ,
वशीभूत तेरे भए, बैठि गेहा ।
नई नित्य विज्ञापना देखि देखी ,
ठगावैं; न पै हानि मानैं विशेषी ॥

७

प्रियाहीनहू लोक मे लोग नाना
लहैं कामिनी कामपत्नी समाना ।
गहैं पाणिपङ्केरुह प्रेमबोरे
सबै सो अहो ! एक तेरे निहोरे ॥

८

प्रजावर्ग को कै वशीभूत आशे !
दिखावै घने आपने तू तमाशे ।
महाखर्वहू त्वद्दयादृष्टि पाई ,
छुवै चन्द्रमा हाथ ऊंचो उठाई ॥

९

विना पैर के पंगु पाथोधि पारा ,
क्षणैकार्द्ध मे लाँघि ऊंचे पहारा ।
जहां जी चहै, जाय, नाना प्रकारा ,
विलोकै छटा, पाय तेरो सहारा ॥

१०

गए गर्भही मे द्वऊ नैन जाके,
सुनौ, हौं सुनाऊं, समाचार ताके।
अहो! सोउ, आशाकृपा पाय, तारा
गिनै सर्व आकाश के बीस बारा॥

११

महामूकहू जे हिए तोहिं धारैं,
प्रियापास ते प्रेम-गाथा उचारैं।
विना कर्णशक्ति त्वदाकृष्ट नाना
सुनैं बात सौ कोस की सावधाना॥

१२

अहैं लोग मत्तुल्य जे पादगामी;
तवालम्ब लै जोति जोड़ी सुनामी।
फिरैं नित्य सानन्द सन्ध्या सबेरे
न गाड़ी, न घोड़ा, न साईस नेरे॥

१३

महादुःख मे, शोक मे, रोग माहीं,
विपत्काल मे, कालहू मे सदाहीं।
लखैं लोग आशे! सुसत्ता तिहारी
गतप्राणवत् त्वद्विना प्राणधारी॥

१४

युवा आश के पाश ते बद्ध नाना
करैं काम बेदाम जानै जहाना।
विना तोहिं कैसे करै धैर्यधारी
कई वर्ष लौं कोउ उम्मेदवारी?

१५

गृहस्थाश्रमी, संयमी, भूमिपाला ,
युवा-बाल-वृद्धादि जो जीवजाला ।
कहूं कोटि मे एक है वीतपापा ;
न तेरो जहां जागरूक प्रतापा ॥

१६

अपुत्री जियैं पाय तेरो प्रसादा ;
तिया भर्तृहीना तजैं दुर्विषादा ।
पितागेह मे कन्यका कामजारी
रहैं वर्ष बाईस लौंहू कुमारी ॥

१७

तुही मोहिनी, तूहि मायाविनी है ,
तिहूं लोक की तूहि सञ्जीवनी है ।
रहै तू न जो, विश्व-जात-प्रसारा
बनै दण्ड मे दण्डकारण्य सारा ॥

१८

उड़ावै शरन्मेघ को वायु जैसे
इतै ते उतै को चहूं ओर, तैसे ।
मनोवृत्ति को तू सदैव भ्रमावै ;
न विश्राम एक क्षणौं लेन पावै ॥

१९

न पृथ्वी, न पाताल न स्वर्गधामा
बचै एकहू; तू फिरै अष्टयामा ।
असी रेल, सौ तार, विद्युत् हज़ारा
भगैं साथ तेरे जु, पावैं न पारा ॥

२०

कछु प्रार्थना है हमारी सुनीजै ;
जगद्धात्रि आशे ! कृपाकोर कीजै ।
सबै देन की देवि ! सामर्थ्य तेरी ;
यही धारणा है सविश्वास मेरी ॥

२१

गुण-ग्राम की आगरी नागरी है ,
प्रजा की जु सन्मानसोजागरी है ।
मिलै ताहि राजाश्रय क्षेमकारी ;
यही पूरियौ एक आशा हमारी ॥

प्रार्थना ।

(७ एप्रिल १८९९ के वेङ्कटेश्वर-समाचार में प्रकाशित)

१

काशी, अयोध्या सम राजराजा ;
मानै जिन्हैं राजन को समाजा ।
पन्ना तथा छत्रपुर प्रधाना ,
ओर्छा धराधीश महामहाना ॥

२

औरौ जिन्हैं देखि दगै सलामी ,
स्वामी मही के महिपाल नामी ।
तथैव अल्पाल्प-धराधिकारी ,
अतीव उर्दू जिनको पियारी ॥

३

कर द्वऊ जोरि तिन्है दुखारी ,
हौं प्रार्थना एक करों पुकारी ।

महीप ! मोसों सुनि ताहि लीजै ;
कृपा इती आप अवश्य कीजै ॥

४

न भूमि विश्वा भरि भूमिपाल !
नाहीं रसाल-द्रुमहू विशाल ।
न वस्त्र मांगौं नयनाभिराम ,
न धाम, न ग्राम, न पै छदाम ॥

५

मत्प्रार्थना-जात तव प्रसादा ,
विदारि सारो जन-दुर्विषादा ।
तिहारिही पुण्यकथा बढ़ै है ;
यशः पताका चहुँधा उड़ैहै ॥

६

त्वदीय वंशीय महीप नाना ,
जे जे भए हर्ष सम प्रधाना ।
ते ते जबै मत्स्मृतिपन्थ पावैं ,
धारा प्रमोदाश्रुन की बहावैं ॥

७

श्रीविक्रमक्ष्मापति, भोज भूपा ,
श्रीमानसिंहादि महेन्द्ररूपा ।
स्वदेश-भाषा-हित-सिद्धि जेती
कीन्ही, छिपी आजहुँ नाहिं तेती ॥

८

न जो इतो संस्कृत-सुप्रकर्षा ,
सदैव ही ते करते सहर्षा ।

विपक्ष होती निज देखि अन्त ,
पधारि पातालपुरी तुरन्त ॥

९

कहां किराताज्र्जुन की कहानी ,
कहां नई नैषधकार वानी ।
होते कहां काव्यकलाप सारे ,
शकुन्तला आदि कहां हमारे ॥

१०

तथैव जे ज्योतिष, नीति केरे ,
साहित्य के, व्याकृति के घनेरे ।
लखे परैं ग्रन्थ अहो अनेका ,
कदापि होते कहुं नाहिं एका ॥

११

बिना स्वराजाश्रय देववानी ,
न भूलि होती गुणराशि खानी ।
जाने सबै सो तिहुँलोक माहीं ,
है सत्य, है सत्य, असत्य नाहीं ॥

१२

हा ! हन्त ! हिन्दी सुइ तासु कन्या ,
सर्व प्रकार व्यवहार-धन्या ।
गली गली आजु मलीन दीना ,
मारी फिरै है अवलम्ब-हीना ॥

१३

त्वत्पूर्व-पृथ्वी-पति-पक्ष पाई ,
भई सुसन्मानित जासु माई ।

तद्दात्मजा दुर्दिन देखि हा हा !
कोहै हियो जासु दहै न दाहा ?

१४

दयाधन ! क्ष्मापतिवंशदीप !
प्रजाजन-प्राण ! अहो महीप !
दया तिहारी कित है सिधाई,
स्वमातृभाषा सुधि जो भुलाई ॥

१५

यदि स्वपूर्वार्य-पदानुरागा ;
न देव भाषा सन जो विरागा ।
तौ को तदीय प्रियकन्यकाही,
देवै बहिष्कार बिसारि ताही ॥

१६

यदि स्वकन्या प्रतिपाल धर्म्म ;
यदि स्वसा* त्यागन में अधर्म्म ।
अहै बहिष्कार अनीत-जात,
तो नागरी को, यह सत्य बात ॥

१७

सिंहासनारूढ़ जहाँहि माता
रही, तहाँ धूलि भरो स्वगाता ।
विलोकि, आत्मा अपघात नारी
करैं ऽपमानार्दित जीव-जारी ॥

१८

कुलीन कन्या सम धर्म्मधीरा
न नागरी, किन्तु, तज्यौ शरीरा ।

* स्वसा-भगिनी ।

तथापि जीर्णाऽखिल-गात बाला
मनावती आपन मृत्युकाला ॥

१९

भुजावलम्ब क्षितिपालरत्न !
अवश्य दै ताहि करौ प्रयत्न ।
न होहि जासों अपमृत्यु ताकी ;
सहायता मांगहुँ और काकी ?

२०

न जो कदाचित् विनती हमारी
प्रवेश पैहै बुधि में तिहारी ।
जनापवाद-व्यथमान ह्वै हौ ;
अन्त स्वयं सर्व यथेष्ट दैहौ ॥

२१

सदोष उर्दू, पुनि अन्यदेशी ;
हिन्दी गुणग्राम-भरी, स्वदेशी ।
तुम्हैं तथापि प्रथमा पियारी ;
हा ! हा ! द्वितीया घरते निकारी ॥

२२

निकारि नारी निज, तोष मानै ;
बीबी विदेशी यदि कोउ आनै ।
विलोकि ताको, सिर भूमि मारै ,
"अन्याय, अन्याय" न को पुकारै ?

२३

लखे परैं केतिक ते नरेश ,
हस्ताक्षरौ उर्दुहि में हमेश ।

करैं, अहो ! जे सुखसों विशेष ,
आनैं हिए में न विचारलेश ॥

२४

ऐसी दशा देशहि में निहारी ,
सहस्रधारा दृगअश्रु ढ़ारी ।
अधोगतिप्राप्त महादुखारी ,
हिन्दी हहा ! जाय कहां विचारी ?

२५

कियो परित्याग यदि क्षितीश !
न और हिन्दी कर कोउ ईश ।
विचारियो भूपति ! चित्त माहीं ;
तुम्हैं बिना तद्गति अन्य नाहीं ॥

२६

सुहेलना भूलि सबै स्वकीया ,
महीप ! मांगै शरण त्वदीया ।
अवश्य ताको अपनाय लीजै ;
हिन्दी हियो शीतल आजु कीजै ॥

२७

अज्ञात, वा ज्ञात, जुपैऽपराधा ,
हिन्दीकृत क्षमापति ! एक आधा ।
भयो, तऊ ताहि विसारि देहू ;
"क्षमा, क्षमा" बोलत धाय लेहू ॥

२८

मत्प्रार्थना एक इती भुवाल !
सुपूर्ति ताकी करियो कृपाल !

राज्य, प्रजा आयु बढ़ै तिहारी ;
अखण्ड आशीष इहै हमारी ॥

मेघमालां प्रति चन्द्रिकोक्तिः ।

(हिन्दीप्रदीप की २३ वीं जिल्द की चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ संख्या में प्रकाशित)

१

स्वदोषराशिञ्च तृणाय मत्वा
ममोपरि त्वं यदकारणञ्च ।
करोषि कृष्णे ! करकानिपात—
माश्चर्यमेतन्ननु मेघमाले !

हे कृष्णे ! (कालेरंगवाली) मेघमाले ! अपनी दोषराशि को तृणवत् समझकर, मेरे ऊपर, अकारणही तू जो ओले बरसा रही है, वह बड़े आश्चर्य की बात है ।

२

रत्नाकरो यस्य पिता, च लक्ष्मीः
स्वसा स्वयं सा जगतोऽस्य माता ।
नारायणो यद्भगिनीपतिश्च ,
स विश्रुतः किं तव नो सुधांशुः ?

जिसका पिता रत्नाकर (रत्नों की खान-समुद्र); जिसकी बहन, इस सारे संसार की माता, साक्षात् लक्ष्मी; जिसका भगिनीपति (बहनोई) स्वयं नारायण-उस सुधांशु (चन्द्रमा) का क्या तूने नाम भी कभी नहीं सुना ?

३

इन्दुः सदा यः शशिशेखरस्य
महात्मनः सर्वसुखाकरस्य ।
विराजते विस्तृतभालदेशे
तस्याङ्गजामेव हि मामवेहि ॥

सब सुखों के आकर (खानि) महात्मा महादेवजी के विशाल भालप्रदेश मे सदैव जो शोभायमान है, उसी चन्द्रमा के अङ्ग से मै उत्पन्न हुई हूं; समझी।

४

तामेव मां व्योम्नि वृथावृणोषि
पुनः पुनः कृष्णमुखि ! त्वमेवम् ।
कुबुद्धिशीले ! त्रपसे कथं न
विशालघर्षोपलवर्षणेन ?

हे कृष्णमुखि ! (काले मुखवाली) उसी मुझको, इस प्रकार आकाश मे तू वार बार वृथा घेरती है। हे कुबुद्धिशीले ! यह बड़े बड़े पत्थर बरसाते तुझे लज्जा भी नहीं आती !

५

नूनं विजानासि न मेघमाले !
यदेतदन्याय्यमिह प्रदर्श्य ।
श्रीश्रीपतिं त्र्यम्बकमिन्दुमब्धिं
सर्वांश्च कोपाकुलितान् करोषि ॥

हे मेघमाले ! जान पड़ता है तुझे इस बात की खबर नहीं है, कि इस अन्याय के कारण, तू, मुझ से सम्बन्ध रखने वाले श्री-श्रीपति-त्र्यम्बक-इन्दु-अब्धि-इत्यादि इन सब देवताओं के क्रोध को बढ़ा रही है।

६

सुश्लाघते यामनिशं त्रिलोकी
तां निन्दयन्ती प्रतिभासि मे त्वम् ।
उन्मादयुक्ता, किमु सन्निपात—
ग्रस्ता, पिशाचस्य करे गता वा ?

जिस मुझे तीनों लोक अहर्निश साधुवाद से प्रसन्न करते हैं, उसी की तू निन्दा करती है ! मुझको जान पडता है, तुझे उन्माद हुआ है; अथवा उन्माद नहीं तो सन्निपात हुआ है; अथवा सन्निपात नहीं तो तेरे ऊपर कोई पिशाच सवार है।

७

" अहं जगज्जीवनहेतुभूता "

यदेवमेवं बहुशो विकत्थ्य ।

इतस्ततस्ताण्डवमातनोषि

जानामि तत्सर्वमहं यथार्थम् ॥

"मैंहीं सब जीवों के जीवन का कारण हूं", इस प्रकार पुनः पुनः प्रलाप कर के, चारों ओर, जो तू अपना नाचकूद दिखला रही है, उसका मर्म मैं भली भांति जानती हूं।

८

स्वस्यैव दोषश्च गुणश्च सम्यक्

नेत्रद्वयं पश्यति न स्वकीयम् ।

तत्वं मुखान्मे श्रृणु तत्त्वमद्य

यद्यस्ति वाञ्छा श्रवणे त्वदीया ॥

अपनेहीं दोष अथवा अपनेहीं गुण को, अपनेही नेत्र, अच्छे प्रकार से नहीं देख सकते। अतः यदि तेरी इच्छा सुनने की हो, तो तू आज मेरे मुख से, अपनी यथार्थ लीला सुन।

९

विभाव्यते चण्डि ! मयेति नूनं

समस्तदेशार्दनतत्परस्य ।

अवर्षणास्याद्य न तस्य कोऽपि

स्मृतिं विसस्मार विकम्पदात्रीम् ॥

हे चण्डि ! (लड़ाकी) मैं समझती हूं, समस्त देश को पीड़ित करने वाले, उस अकाल की, कम्पोत्पादक सुधि, अभी तक किसी को नहीं भूली।

१०

भिक्षारतासंख्यमनुष्यजाति—

रहो प्रसादेन तवैव पश्य ।

विना जलं वृष्टिभवं विनान्नं
क्षीनाशदेशातिथितामवाप ॥

देख, उस समय, तेरेही प्रसाद से, विना पानी और विना अन्न के, असंख्य मनुष्य, क्षुधार्त्त हो हो कर, यमपुरी को चले गए ।

११

वध्वश्च बाला विधवात्वमापु—
र्नराः पितृभ्रातृवियुक्तताश्च ।
विचिन्त्य तत्तत् हृदयं जनानां
हा ! हन्त !! हा हा !!! शतधा प्रयाति ॥

नवीन विवाहिता स्त्रियां विधवा होगईं, मनुष्य विना भाई और विना बाप के हो गए । हाय ! हाय ! उन बातों का स्मरण होतेही कलेजे के सौ टुकड़े हो जाते हैं ?

१२

* त्वं सैव पापे ! खलु वत्सरेऽस्मि—
न्देशानहो मालवगुर्जरादीन् ।
पुनश्च निर्मानुषतां विनेतु—
मवर्षणेनैव समुद्यताऽसि ॥

हे पापिनी ! वही तू , फिर भी, इस साल, पानी न बरसा कर, गुजरात, मालवा इत्यादि देशों को मनुष्यहीन करने पर उद्यत हुई है !

१३

विकत्थसे दुर्मुखि ! जीवदान—
कथां मुहुस्त्वं कथयन् तथापि ।
विधाय कर्म्मेदृशमप्यनर्हं
न लज्जसे ? धिक् तव साहसिक्यम् ॥

हे दुर्मुखि ! (बुरे मुखवाली) तिसपर भी तू , पानी बरसाकर लोगों को जीव दान देने की कथा, वार वार इधर उधर कहती फिरती है । इस प्रकार का अनार्य कर्म्म कर के भी तुझे लज्जा नहीं आती ! तेरे साहस को धिक् !!

* यह पद्य फरवरी १९०० में लिखा गया है ।

१४

विहारदेशः सहसा बभूव
प्रायो विनष्टः सलिलाप्लवेन ।
दिनानि जातानि बहूनि नैव
न विश्रुतं तत्किमु मेघमाले ?

हे मेघमाले ! अभी बहुत दिन नहीं हुए; बूड़ा आने से प्रायः सारा विहार प्रान्त सहसा जल मग्न हो गया । क्या यह भी तूने नहीं सुना ?

१५

मृता मनुष्याः पशवो हताश्च
गता जले ग्रामगणा अनेके ।
पिनाकपाणि-र्मम विद्यतेऽस्मिन्
साक्षी, त्वदीयोऽपि च वज्रपाणिः ॥

अनेक मनुष्य मर गए; अनेक पशु मर गए; अनेक ग्राम रसातल चले गए। मैं क्या झूठ कहती हूं। कदापि नहीं । इस विषय मे मेरे शङ्कर साक्षी हैं; तेरे भी तेरे इन्द्र हैं । उनसे पूंछ ।

१६

अयं प्रसादोऽपि तवेति लोके
विलक्षणं वेत्ति मनुष्यवर्गः ।
दत्ते च तुभ्यं बहु धन्यवादं
त्वया गृहीतः स न वा, न जाने ॥

यह भी सब तेराही प्रसाद है । इस बात को सब लोग विलक्षण प्रकार से जानते हैं । जानतेही नहीं किन्तु तुझे धन्यवाद भी देते हैं ! मै नहीं जानती, उनका धन्यावाद तूने ग्रहण किया अथवा नहीं !!

१७

नृशंसताभ्यासपरामिमां स्वां
कृतिञ्च विस्मृत्य तथापि कृष्णे !

चराचरप्राणधनप्रदान—
भेरीं भृशं वादयसीति चित्रम् !

हे कृष्णे ! तिसपर भी, तू, अपनी एतादृशी मनुष्यसंहारकारिणी कृति को भूल कर, चराचर को प्राणदान देने की दुंदुभी बजाती फिरती है। यह महा आश्चर्य की बात है !

१८

धन्या त्वदीया किल सत्यतायां
प्रीतिश्च, धन्यस्तव युक्तिवादः ।
धन्यश्च धाष्टर्यं ननु मेघमाले !
त्वञ्चापि धन्या स्वयमेव बाले !

मेघमाले ! धन्य तेरी सत्यप्रीति ! धन्य तेरी बात चीत करने की युक्ति ! धन्य तेरी धृष्टता ! धन्य तू स्वयं भी !

१९

गृह्णासि पाथोऽधिपतेश्च यस्मात्
पाथः सदा पाणियुगं प्रसार्य ।
करोषि तस्मिन्नपि वज्रपातं
हा हा विवेकस्तव कीदृशोऽयम् ?

जिस समुद्र से सदैव हाथ जोड़ जोड़ तू पानी लेती है, उसपर भी तू बज्रपात करने से नहीं चूकती। हाय ! हाय ! तेरा यह अविवेक कैसा ?

२०

जानासि किं त्वन्न तवैव योगं
प्राप्य प्रियाः प्रेम परा निशायाम् ।
केलिस्थलं सत्वरमेव गत्वा
कुर्वन्ति पापं व्यभिचारजातम् ॥

क्या तू नहीं जानती कि रात्रि मे, तेरे योग से अधिक अन्धकार देख, कामान्ध स्त्रियां, संकेत स्थान को जाकर, व्यभिचारजात घोर पातक करती हैं।

२१

तवैव योगेन निशि प्रहृष्टा—
श्चौरा धनं धान्यमहो हरन्ति ।
दशन्ति सर्पा अपि घोररूपा
यदासि रात्रौ गगने त्वमेव ॥

तेरेही योग को पाकर, प्रसन्नतापूर्वक, रात्रि में, चोर लोग धन धान्य सभी हरण करते हैं। यही नहीं, किन्तु, रात्रि में जब तू आकाश आच्छादित कर लेती है तभी बड़े बड़े घोर सर्प भी लोगों को दंश करते हैं।

२२

हे धूम्रवर्णे ! जलबाष्पदेहे !
कृष्णे ! न चाहङ्कृतिमुद्वहस्व ।
स्वल्पां स्थितिं स्वामनुलक्ष्य तिष्ठ
वातोऽपि ते घातकृतौ समर्थः ॥

हे धूम्रवर्णे ! हे जलबाष्पदेहे ! हे कृष्णे ! बहुत घमंड मत कर। तेरी स्थिति थोड़ी चार घड़ी की होती है। उसे न भूल। चुप चाप बैठी रह। और की तो बातही नहीं, यः कश्चित एक छोटा सा वायु का झकोरा भी तुझे समूल उड़ा ले जाने के लिए बस है।

२३

दुर्धर्षिणि ! क्वापि भविष्यसि त्वं
प्रहर्षिणी मे न वदामि सत्यम् ।
पर्जन्यपूर्तिं मदमित्रनेत्र—
धाराः करिष्यन्ति सदा यथेच्छम् ॥

हे दुर्धर्षिणि ! तू मेरे लिए कभी भी प्रहर्षिणी (आनन्द देनेवाली) नहीं हो सकती। यह मैं सत्य कहती हूं। तेरे विना मेरा काम न चलैगा—यह तू मत समझ। मुझको, मेरे शत्रुओं के नेत्रों से निकली हुई अश्रुधाराएं, वृष्टि का काम देने के लिए सदा भल होंगी।

कथमहं नास्तिकः ?

(२७ मई १८९९ इत्येतत्तिथे राजस्थान-समाचारपत्रे प्रकाशितः)

१

जागर्ति देव ! तव शक्तिरनन्तरूपा
व्याप्ता चराचरमये भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
तारापथे, भुवि, नरे च, नरेश्वरे च,
तोयेऽनले, मरुति, मृद्यपि साऽऽविरास्ते ॥

हे देव ! आपकी अनन्त शक्ति, इस चराचरपूरित त्रिभुवन मे व्याप्त होकर, दे-दीप्यमान हो रही है । वह कहां नहीं है ? आकाश मे, पृथ्वी मे, राजा मे, प्रजा मे, अग्नि मे, जल मे, वायु मे, सब कहीं है । और कहां तक कहें-मृत्तिका तक मे वह विद्यमान् है ।

२

पश्यामि तां भुवननायक ! भूतमात्रे
दृष्टं हि नैकमपि वस्तु तया विहीनम् ।
एतन्मुहुर्मुहुरहं मनसा विचिन्त्य
पारं न यामि परमेश्वर ! ते महिम्नः ॥

हे भुवननायक ! आपकी उस अनन्त शक्ति को हम भूत मात्र मे देखते हैं । एक भी तो वस्तु ऐसी नहीं जिसमे वह अधिष्ठित न हो । बारंबार यही सब मनही मन चिन्तन कर के, आपकी महिमा के पार जाने से, हम असमर्थ हो रहे हैं ।

३

पत्रं न कम्पमयते धरणीरुहाणा—
माज्ञां विनैव तव तत्त्वविदो वदन्ति ।
जानामि सर्वमहमीश्वर ! चेतसीदं
तर्हि प्रभो ! कथमहो ननु नास्तिकोऽस्मि ?

हे ईश ! आपकी आज्ञा विना पत्ता तक नहीं हिलता-यह बड़े बड़े तत्वज्ञानी

महात्मा कह रहे हैं। इस बात को हम भी भली भांति जानते हैं; अतः, हे प्रभो! हम नास्तिक क्योंकर हैं? यह हमें नहीं समझ पड़ता।

४

वेदास्त्वदीयवचसां यदयं विलासो,
जानाम्यहं तदपि; तान् हृदि धारयामि।
केनास्तु नाम मम नास्तिक? इत्यवैषि
त्वञ्चेद्दयाधन! दयालुतयाऽभिधेहि॥

चारों वेद आपकी वाणी का विलास हैं अर्थात् आपही के मुख से निकले हुए हैं; इसे भी हम जानते हैं; जानते ही नहीं किन्तु वेदों को हृदय से मानते भी हैं। फिर, हमारा नाम, "नास्तिक" क्यों कर हो सकता है? हे दयाधन! यदि इसका भेद आप जानते हों तो, दया कर के आपही हमें बतलाइए।

५

लोकैकदीपकमणौ द्युमणौ त्वदीयं
सत्वं चकास्ति खलु यत्तिमिरापहारि।
तस्यैव कोऽपि भुवनाधिपते! सदंशो
रथ्यारजःकणगणेषु विराजतेऽयम्॥

हे भुवनाधिपते! त्रैलोक्यदीपक सूर्य मे, अन्धकारनाशक आप का जो सत्व चमक रहा है, उसीका कोई क्षुद्र अंश गलियों मे पड़े हुए रजः कणों मे भी विराजमान है।

६

जानाति तत्त्वमिदमेव सदा जनो यो
ब्रूहि त्वमेव भगवन्! किमु नास्तिकः सः?
एवं भवेद्यदि तदा जगतीतलेऽस्मिन्
मन्ये ह्यभावमहमीश! सदास्तिकानाम्॥

हे भगवान्! जो मनुष्य इस तत्व को जानता है, आपही कहिए, क्या वह नास्तिक है? हे ईश! यदि यह बात सम्भव है तो, इस महीतल मे, हमारी समझ मे, कोई आस्तिकही नहीं; सभी नास्तिक हैं।

७

मूर्तिस्तु नौमि निखिलेष्वमरालयेषु
नाहं, न, देव ! शृणु सत्यवचो वदामि ।
सत्तां विलोक्य सकले जगति त्वदीयां
प्रीतिस्तथाप्यतिशया प्रतिमासु नो मे ॥

हे देव ! जितने देव मन्दिर हैं, उनमे स्थापन की गई मूर्तियों को हम नमस्कार नहीं करते, ऐसा नहीं; हम नमस्कार करते हैं। हमारे इस कथन को आप सत्य समझिए। तथापि, आपकी सत्ता को, इस सारे जगत मे विद्यमान् देख, केवल प्रतिमाओं में हीं हमारा अतिशय प्रेम नहीं।

८

आश्चर्यमेतदखिलेश ! न ते प्रभूतां
शक्ति विलोकयत एव चराचरे मे ।
सर्वत्र पश्यति तव प्रभुतां प्रभो ! यः
स त्वेकवस्तुनि कथं विदधातु भक्तिम् ?

हे अखिलेश ! आपकी महती शक्ति को, चराचर मे देखनेवाले हमारे लिए, यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। हे प्रभो ! आपकी प्रभुता को जो, सर्वत्र, सारी वस्तुओं मे, देख रहा है, वह एकही वस्तु की भक्ति में, किस प्रकार लीन हो सकता है ?

९

एतादृशं जनमथो खलु ये विमूढा
आस्तिक्यतत्त्वरहितं प्रवदन्ति, ते तु ।
मैरेयनाशितधियः किमुत त्रिदोष—
पाशैकतानहृदयाः किमु नेत्रहीनाः ?

ऐसे मनुष्य को, जो मूढ़ नास्तिक कहते हैं, वे हमारी बुद्धि मे, मद्यप्राशन कर के मतवाले हो रहे हैं; अथवा सन्निपात की पाश मे फँसे हैं; अथवा आंखों के अन्धे हैं !

१०

द्रष्टुं वधूजनमुखानि सुरालयेषु
सायं प्रभात इह यत्क्रियते प्रयाणम् ।
लोकाः स्तुवन्तु यदि नाथ ! तदेव नूनं
हा हा ! हतं !! जगदधीश ! तदाऽऽस्तिकत्वम् ॥

हे जगदधीश ! जो लोग, मृगनयनी कामिनी जनों की ओर घूरनेहीं के हेतु, देवालयों को, सबेरे और सायङ्काल, जाते हैं उन्हीं की सब कोई यदि प्रशंसा करें, तो तो, हाय ! हाय ! आस्तिकता अस्त होगई समझनी चाहिए !

११

हस्तं निधाय जगदीश ! पटान्तरेषु
प्रातस्त्वनेकविधमन्त्रजपच्छलेन ।
कुर्वन्ति येऽन्यजनपीडनचिन्तनानि
तेभ्यो मदीयनमनानि लसन्तु दूरात् ॥

हे जगदीश ! प्रतिदिन, प्रातः काल, हाथ को कपड़े मे छिपाकर, अनेक प्रकार के मन्त्र जप करने के मिष, जो लोग, दूसरों को पीड़ा पहुँचानेहीं का चिन्तन करते हैं, उनको हमारा दूरही से नमस्कार है !

१२

एवंविधैव भुवि धार्मिकता जनेषु
तोषं तनोति यदि देव ! तनोतु कामम् ।
प्राणात्ययेऽपि ननु नाभिलषाम्यहं तां;
स्वैरं जनाभिहितनास्तिकता ममास्तु ॥

हे देव ! यदि इसी प्रकार की धार्मिकता से लोगों को सन्तोष होता हो तो, बहुत अच्छी बात है; वह भली भांति सन्तुष्ट होवें । परन्तु हम तो, प्राण जाने तक भी उस प्रकार की धार्म्मिकता की अभिलाषा नहीं रखते । लोग हमको भलेही नास्तिक कहा करें ।

१३

कृत्यं विधाय जगतीह मलीमसं ये
भाले दधत्यमलचन्दनपङ्कलेपम् ।

तेषां निशम्य गणनामतिधार्म्मिकेषु
हास्यं जहाति जगदीश्वर ! नो मदास्यम् ॥

हे जगदीश्वर! इस संसार में कालि से भी काले कर्म्म करके, जो लोग ललाट पर चन्दन का सफेद लेप लीपते हैं, उनकी भी गणना जब हम बडे बडे धार्मिकों में सुनते हैं, तब हमारे मुख में, हंसी किसी प्रकार नहीं रुकती।

१४

ये सन्ति धर्म्मनिचया धरणीतले ऽस्मि-
न्नेका दयैव सकलेषु च सारभूता ।
जानन्ति तत्वमिदमीश्वर ! बालवृद्धाः ;
श्रद्धास्तु , नास्तु , रुचिभेदवशेन तस्मिन् ॥

हे ईश्वर ! इस भूतल में जितने धर्म्म हैं, सब में एक मात्र दया ही सार है । छोटे बडे सभी, इस सिद्धान्त को मानते हैं । फिर चाहे रुचिवैचित्र्य के कारण उसमें उनकी श्रद्धा हो अथवा न हो ।

१५

सद्धर्म्मसारमनुमाय यथामतीदं ,
शोकार्त्तबालविधवासु दयां दधे ऽहम् ।
तेनैव नास्तिकनरः किमहं भवेयम् ?
पश्य त्वमीश ! जडता जगतो ऽस्य केयम् ?

हे ईश ! इस प्रकार, यथा मति, सब सद्धर्मों का सार समझ कर, शोकार्त बालविधवाओं के ऊपर हमको दया आती है । तो क्या इससे हम नास्तिक हो गए ? देखिए तो सही ; संसार की इस जडता का कहीं ठिकाना है ?

१६

धर्म्मस्य मूलमिह देव ! यदि प्रकृष्ट
आचार एव सुविचारकलोकदृष्ट्या ।
तर्हि प्रयान्तु विलयं श्रुतयस्त्वदीया ;
अब्धौ पतन्तु तरसा स्मृतयो ऽस्मदीयाः ॥

हे देव ! सुविचारक जनों की दृष्टि में, उत्कृष्ट आचारही यदि धर्म्म का मूल हो तो, आप की श्रुतियां विलय को प्राप्त होजावैं और हमारे पूर्वजों की स्मृतियां भी समुद्र में डूब मरैं ? उनकी आवश्यकता ही फिर क्या रह गई ?

१७

ईश ! श्रुतिस्मृतिपथं प्रतिवासरञ्च
के न त्यजन्ति बहुवारमिहैव नूनम् ?

एते तु धार्म्मिकशिरोमणयस्तथापि
ग्लानिं भजन्ति भुवनेश्वर ! नो कदापि !

हे ईश ! श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित-मार्ग का-एक बार नहीं अनेक बार-कौन नहीं उल्लंघन करता ? तथापि हमारे धार्म्मिक-शिरोमणि, ऐसा करके भी, मन में किञ्चिन्मात्र भी ग्लानि नहीं लाते !

१८

रूढिं विहातुमथ यो यतते परन्तु ;
तं, दुर्बलाङ्गहरिणं किल केसरीव ।
विश्वेश ! पश्यति रुषारुणनेत्रलोको
हा हा ! विवेकविषये किमियत्युपेक्षा ! !

परन्तु, हे विश्वेश ! रूढि से बाहर होने की जो मनुष्य ज़रा भी इच्छा करता है, उस को-दुर्बल हरिण की ओर शेर के समान -लोग क्रोध से नेत्रों को लाल लाल करके, देखते हैं। हा विवेक-ग्रहण में इतनी उपेक्षा ! ! !

१९

आचारमात्रपरिपालनलीन एव
लोके किलास्तिकनरप्रवरो ; जनो ऽन्यः ।
घोरो हि नास्तिक—इति ब्रुवतां नराणां
स्वल्पापि देव ! समुदेति कथं न लज्जा ?

हे देव ! "आचार मात्र के परिपालन में जो लीन होरहे हैं, वही आस्तिकों में श्रेष्ठ हैं ; शेष सब मनुष्य घोर नास्तिक हैं"—इस प्रकार प्रलाप करनेवालों को ज़रा भी लज्जा नहीं आती ?

२०

यत्ते स्वयं जगदिदं परिवृत्तिशीलं,
देवाधिदेव ! तदहो ! ननु को न वेत्ति ?
आचार एव भजतु स्थिरतां कथं त-
न्नैसर्गिकं नियममीश ! विहाय भूमौ ॥

हे देवाधिदेव आपका बनाया हुआ स्वयं यह जगतही परिवर्तन-शील है-कुछ न कुछ फेर फार इस में हुआही करता है ; इस बात को कौन नहीं जानता ? हे ईश ! फिर इस नैसर्गिक नियम को छोड़ कर, अकेला आचारही किस प्रकार एकही दशा में स्थिर रह सकता है ?

२१

किं भूयसाऽस्ति ? भगवन् ! न बिभेमि नूनं ;
लोका ब्रुवन्तु नितरामिह नास्तिकं माम् ।

विश्वं विलोकयति नेत्रयुगञ्च याव-
त्तावद्भवामि भुवनेश ! न तादृशोऽहम् ॥

हे भगवन् ! और अधिक कहना सुनना व्यर्थ है । हमको सब लोग यथेच्छ नास्तिक कहें ; हम डरते नहीं । हे भुवनेश ! जब तक हमारे दोनों नेत्र, आपके निर्म्मित इस संसार-चक्र को देख रहे हैं, तब तक तो हम, किसी प्रकार, नास्तिक नहीं हो सकते ।

२२

हस्तः कदापि कलितो न हि गोमुखीषु ;
सन्ध्यापि देव ! समये समुपासिता न ।
जानासि सर्वमिदमेव वदाम्यहं किं ?
स्वान्ते सदैव यत ईश ! विराजसे त्वम् ॥

हे देव ! हमने, भूल से भी कभी, गोमुखी में हाथ नहीं डाला ; यही नहीं, किन्तु, यथा-समय सन्ध्योपासन भी नहीं किया । हे ईश ! यह सब आप स्वयं जानतेही हैं ; हमारे कहने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि आपतो सदैव सब के हृदयारविन्द में विराजमान हैं ।

२३

नित्यं जपामि यदहं शुचिसत्यसूत्रं,
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपः पवित्रः ।
या सज्जनेषु भगवन् ! मम भक्तिरेषा ;
सैव प्रभो ! भवतु देवगणस्य पूजा ॥

हे भगवन् ! पवित्र सत्य का जो हम सदैव जप किया करते हैं, उसी को आप हमारा मन्त्र-जप समझिए ; और सत्पुरुषों में जो हमारी भक्ति है, उसी को, हे प्रभो ! हमारी देवपूजा मानिए !

२४

सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु नियतं निखिलव्रतानाम् ।
अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतलो मा-
मानन्दयत्वनिशमीश ! परोपकारः ॥

हे ईश ! जीवमात्र के विषय में हमने जो दयाव्रत धारण किया है, वही, हमारे लिए, प्रदोषादि सारे व्रतों के फल का दाता होवे ; और उत्तमोत्तम चन्दन से भी अधिक शीतलता को धारण करनेवाला परोपकार, सदैव, हम को आनन्द देता रहे !

२५

अन्यद्ब्रवीमि किमहं ? जगदेकबन्धो !
बन्धुर्न कोऽपि मम देव ! सुतोऽपि नास्ति ।

तन्नास्तिकस्य भगवन्नथवाऽस्तिकस्य ;
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे ! गतिर्मे ॥

हे देव ! और अधिक हम क्या कहें ? आप इस जगत के एक मात्र बन्धु हैं; परन्तु संसार में हमारे कोई बन्धु नहीं ; पुत्र भी कोई नहीं। अतएव, हे करुणा-सागर ! हे भगवन् ! इस नास्तिक अथवा आस्तिक की गति केवल आपही के हाथ में है।

नागरी का विनयपत्र।

(१५ मे १८९९ के भारतजीवन में प्रकाशित)

१

मेरे प्रचार हित यत्न भए अनेका ;
पै हा ! अभाग्यवश सिद्ध भयो न एका।
न्यायालयादि महँ होय न मत्प्रवेश ;
कासों कहौं अपनि दीनदशा महेश !

२

मेरे सुयोग्य सुत जे, तिन धैर्य्य धारी ;
कीन्हे उपाय बहु, देखि दशा हमारी।
काहू सुनी न अबलौं मम दुःखगाथा ;
आवै हिए मरहुँ आपन फोरि माथा ॥

३

स्वीकार हाय ! सरकार करै न मेरो ;
धिक्कार मोहिँ, कित जाय करों बसेरो ?
घोरान्धकार अब मोहिँ चहूं दिखाई ;
खाई न जाय अहिफेन तऊ दुराई ॥

४

आत्मापघात करते करते बनैना ;
भारी बहाय जलधार थकैं न नैना।
है एक मात्र अवशेष उपाय ईश !
कै ताहि कर्म्म कहँ नावब नष्ट शीश ॥

५

राजाधिराज-गण-पूजित राजरानी ;
विश्वोपकार-रत दान-दयादि-खानी।

विक्टोरिया नगर लण्डन मे विराजै ;
जासु प्रताप लखि दिव्य दिनेश लाजै ॥

६

ताके सुराज्य महँ निर्बल जाति नारी ;
सम्मान पाय विहरैं सुखयुक्त सारी ।
हुङ्कार मात्र जिनकी सुनतैऽधिकारी ;
धावैं तुरन्त सिगरे करि कोप भारी ॥

७

ताही महामहिमरानि-निदेश धारी ;
सर्वोच्च तत्प्रतिनिधि-प्रतिमानुकारी ।
है जो प्रयाग महँ धर्म्मधुरीण लाट ;
तदूद्वार ओर गत लैहहुँ आजु वाट ॥

८

कै कै कठोर हिय धीरजहू दृढ़ाई ;
लज्जा विहाय, बहु बार नमः सुनाई ।
आज स्वयं विनयपत्रक हौं लिखै हौं ;
स्वप्रान्त-लाट-मुख-सम्मुख यौं सुनैहौं ॥

९

न्यायी ! दयाधन ! महाप्रभु ! दीनबन्धो !
नारी पुकार सुनियो करुणैकसिन्धो !
आवौ स्वकीय गृह बाहर नाथ ! आवौ ;
आवौ, न बेर अब आज अहो लगावो ॥

१०

एतत्प्रदेश-नगरी-पुर-खेर-वासी ;
आबाल, बृद्ध, वनिताजन, दास, दासी ।
माता समान सब मोहिँ चहैं सदाहीं ;
तोसों छिपी तनिकहू यह बात नाहीं ।

११

मैहूं अतीव रुचिराकृति धारि रूपा ;
सेवौं सबैहि सम जानि भिखारि भूपा ।

विख्यात विश्व बिच अद्भुत शुद्धि मेरी ;
शङ्का अलीक यह–होहि मदर्थ देरी ॥

१२

चाहै लिखैं निपट अल्प वयस्क बाल ;
सो अन्यथा न कहुँ कोउ पढ़ै त्रिकाल ।
सत्यानुराग मम ईदृश चित्त लाई ;
बैठैं विपक्षि–जनहू सहसा लजाई ॥

१३

तो हे कृपा–कुल–पते ! गत–पक्षपात !
काहे ऽधिकार मम मोहिँ न देहु तात ?
न्यायाधिदेवहि यदि प्रभु ! सत्य बात
त्यागैं, तदा हठि हताऽस्मि विशीर्ण–गात ॥

१४

द्वै चारि चारुमति जे विपरीत भाखैं ;
स्वार्थान्ध ते तजि सिता शुचि, राख चाखैं ।
सौ में करैं जु दश पांच विपक्ष–जाप ;
को बुद्धिशील सुनि है तिनको प्रलाप ? ॥

१५

जो सत्य मैं गुणवती ; नृपधर्म्म सत्य ;
प्रायः प्रजा सब चहै यदि मोहिँ सत्य ।
तौ सत्यशील ! तुम कारण तौ बतावौ ;
जासों मदीय विनती मन में न लावौ ॥

१६

सत्यानुयायि सुकरात महादुरन्त ;
प्राणापहारि विष पान कियो तुरन्त ।
गैलीलियोहु भुव मध्य भयो महाना ;
सत्यानुरोध सिगरो जग जासु जाना ॥

१७

लै सत्य पक्ष, तजि जीव, यशः प्रसारा
क्राइस्ट कीन चहुँ; जानत विश्व सारा ,
तौ सत्यजीति करिहौ तुम जो न हा हा !
हे नाथ ! तोहिँ कहि हैं सब लोग काहा ? ॥

१८

जेती प्रजा, सकल सन्तति तुल्य मेरी ;
मत्प्रीति रीति तिनमें अतिही घनेरी ।
तौ लौं सकौं न करि तासु तथापि सेवा ;
जौ लौं सहाय तव मोहिँ मिलै न देवा !

१६

नीके निकारि तव इंग्लिश वर्णशाखा ;
इंग्लैण्ड माहिँ हिबरू यदि होहि भाषा ।
तो मद्विपत्ति सब नाथ ! घरी मझारा ;
ह्वैवै त्वदीय हृदयस्थ भले प्रकारा ॥

२०

तेरी दया वह कहां भगवन् ! सिधारी ?
मेरी बिहार महँ जैं विपदा विदारी ।
सोउ त्वदीय करुणा क ? अकाल जारे ;
लाखौं मनुष्य जिहिँ अर्द्धमरे उबारे ॥

२१

कीन्हे प्रजा-दुख-विनाशक-काज नाना ;
दीन्हे अनेक अबलौं अभयप्रदाना ।
भ्रूभङ्ग मात्र महँ होहि भलो हमारो ;
कार्पण्य तद्गत न युक्त अहो तिहारो ॥

२२

श्रेयःक्रिया जितिक, विघ्न बिना न होहीं ;
जानो स्वयं, तउ करौ न कृतार्थ मोहीं ।
देव ! त्वदीय नहिँ दोष; अभाग्य मेरो ;
पावौं न मेरु सन जो कण हेम केरो ॥

२३

विद्वद्धुरीण तव केतिक देशवारे ;
सानन्द, नित्य, गुणगान करैं हमारे ।
इस्लामजाति-नरपुङ्गवहू कितेक ;
सत्साधुवाद मम हेत कहैं अनेक ॥

२४

तौहू अहो प्रभुवर ! प्रभुता बिसारी ;
अत्यल्प-विघ्न-भय-सम्भ्रम-चित्त धारी ।
मान्यौ न नाथ ! अबलौं विनती हमारी ;
आश्चर्य्यकारि यह नीति नई तिहारी ॥

२५

जाके सुराज्य महँ नाश सती न पावैं ;
होतै सुता न यमराजपुरी सिधावैं ॥
उद्दण्डदाप पति की लहि अल्पबाला ;
प्राणान्त दुःख सहतीं न कदापि काला ॥

२६

ताही प्रभो ! ब्रिटिश-वंश विशाल माहीं ;
त्वज्जन्म,-याहि बिसरौ निमिषार्द्ध नाहीं ।
आगे कहौं कह ? कढ़ै मुखते न वानी ;
दुःखातिरेक-वश बात सबै भुलानी ॥

२७

माता जुपै सुत सुता सन छूटि जाही ;
होवै कितो दुख परस्पर देहदाही ।
लेडी स्वकीय सन या विधि पूछि, नाथ !
कीजै यथा उचित; नावहुँ तोहिं माथ ॥

२८

मैं नारि जाति, अबला, शिथिलाङ्ग, दीना ;
द्रव्यादि कार्य्यकर सर्व सहाय हीना ।
श्रीमल्लुलाम म्यकडानल धाम जाई ;
मध्यस्थ छोंड़ि विनती मम को सुनाई ? ॥

२९

ताते महान् मदनमोहन मालवीय !
दीजो पठाय यह पत्रक मद्-द्वितीय ;
विज्ञप्ति एक इतनी सुनियो मदीय ;
होवो चिरायु ; यश नित्य बढ़ै त्वदीय ॥

सुतपञ्चाशिका।
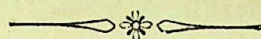
(८ जनवरी १९०० के भारतमित्र में प्रकाशित)

१

दिन विगत भए पर एक बार, सद्वंश-जात अतिही उदार।
चिरमित्र एक मम गेह आय, बोलेहु, यहि विधि, मो सन सुनाय।

२

करि राजकाज सब, आजु, मित्र ! घर आय एक लीला विचित्र।
देखी, तिहि विषयक सर्व बात, हौं तोहिँ सुनावहुँ, सुनिय तात॥

३

पद धारि गेह, पुनि पट उतारि, जहँ के तहँ सारे धरि सँवारि।
अन्तः प्रवेश करि, दृश्य एक, लखि मोहिँ भये संशय अनेक॥

४

माता मर्दँयि विस्रस्तकाय, कर में कपोल करि, शीश नाय।
दृग दोउन से अँसुवा बहाय, बैठी, जनु निज सर्वसु गँवाय॥

५

मुख पै लट लटकत तीनि चारि, अवलोकत होवहि कंप भारि।
धोती मलीन इक अंग धारि, कछु सोचति सी सुधि बुधि बिसारि॥

६

यह देखि भयो मम विकल चित्त, पत्नी तन हेरन के निमित्त।
गृहकोण माहिँ लोचन चलाय, जो दशा दीख सो कहि न जाय॥

७

मुख ऊपर घूँघुट-घटा तानि, रहि रहि सह सिसकी रुदन ठानि।
तन वसन सबै महँ धूरि सानि, फुफकराति मनहुँ नागिनि रिसानि॥

८

घनगमन—नाहिँ, वरु बज्रपात, सुनि इतो न दुख किय राम मात।
पतिनिधन जानि घननादनारि, पायी न विकलता इती भारि॥

९

सहधर्मचारिणी-नयन-धार, लखि समरथ फोरन में पहार।
अनुमान अमित किय हिये माहिँ, दुख हेतु सके हम जानि नाहिँ॥

१०

भयभीत पीत-मुख विकलगात, करकंपत हियरो थरथरात।
तब जाय मातु पहँ, डरत जात, जिमि तिमि, हम या विधि, कही बात॥

११

हे अम्ब! कहहु किन, भयो काह? किहि कारण है यह दुख अथाह?
सुनि सुनि यह मातु! तिहारि आह, हौं पावहुँ दुस्तर देहदाह॥

१२

यदि कीन कोउ अपमान आय, कलिही तिहि ऊपर 'समन' जाय।
यदि मैंहि मातु! अपराध-सद्म, मम माथ तिहारे पादपद्म॥

१३

हे अम्ब। धैर्य अवलम्ब लेहु, इतनो वर मांगे मोहिँ देहु।
कहिये, कहिये, कहिये, बुझाय, किहि हेतु मची यह हाय हाय?

१४

सुनि या विधि मद्विनती विनीत, अनुमानि मोहिँ अतिमात्र भीत।
जननी दुखपावकदग्ध मीत! आरम्भ कीन इमि बात चीत॥

१५

पूछहु कह मोसन बार बार, अनजान बने तुम हे कुमार!
सुधि लेत नहीं मम इष्टदेव, कछु जानि परै न अदृष्टभेव॥

१६

मैं और वहू व्रत किय अनेक; उपवास न जानहुँ धौं कितेक।
सुरध्यान धरो; बहु करो दान; सनमाने भूसुर, बुध, महान॥

१७

बरसों सन्तान-गोपाल मन्त्र—जप भयो, बधाये विविध यन्त्र।
हरिवंश पुराणहु बार सात, उन सुन्यो; न तउ कछु कहुँ दिखात॥

१८

सुनि मंत्र तथैव पुराण वानि, भय भयो न्यून मम, मर्म्म जानि।
सुव्यर्थ सर्व यह घटाटोप, लखि उपज्यो मन महँ कछुक कोप॥

१९

तउ मान्यमातु कर राखि मान, हठि बीचहि में हम कछु कहा न।
उन सोइ पूर्ववत अपनि गाथ, गाई इमि मन्द, नवाय माथ॥

२०

तुलसी अरु पीपल पेड़ केरि, दस लाख प्रदक्षिणा कीन घेरि ।
जल जड़में इनकी डारि डारि, कितनेक कूप हम किय उघारि ॥

२१

व्रत बचे कौन जो हम न कीन ? ग्रहदान कौन जो हम न दीन ?
उपदेश कौन जो हम न लीन ? हा हन्त ! तऊ सुतसुत-विहीन ॥

२२

गुरुचरणन में करि नित्य लीन, प्रति मास दीन ओषधि नवीन ।
कीन्हें बहु यद्यपि मैं उपाय, मम इष्टसिद्धि तऊ भै न हाय !

२३

यह इतनो धन, अरु धरा, धाम; वन, उपवन, बाग-बिभाग, गाम ।
हे पुत्र ! कौन लैहहि समस्त ? जिय विकल होत गुनि वंश-अस्त ॥

२४

बिन पुत्र रही किही विधि निशान ? को दैहहि हाहा ! पिण्डदान ?
ये राशि राशि पोथी पुरान, कित जैहहिँ तजि तव वास-थान ?

२५

छल छाँड़ि करहु जउ शुद्ध प्रेम, स्वप्राणहु दै जउ चहहु क्षेम ।
तउ अपनि होहिँ नहिँ जे परारि, हे पुत्र ! सत्य वच ये हमारि ॥

२६

यह सोचि, मोचि दिन रैनि धार, निज नैननि ते सुत ! बार बार ।
मैं पावहुँ हा हा ! दुख अपार; प्रविशौं जु होहि महि में दरार ॥

२७

धिक मोहिँ, हाय मैं महा नीच ; धिक भाग्य ; मोहिँ आवै न मीच ।
धिक धिक धिक मैं पापिनि महान, जिहि हियो न सुत-सुत-लै जुड़ान ॥

२८

यहि भाँति विविध विधि करि विलाप; सिर धुनि धुनि अति उपजाय ताप ।
तन वसन केरि सुधि बुधि बिसारि, जब थाकी छाती मारि मारि ॥

२९

निज जननी सम्मुख हाथ जोरि, बहु बार विनय करि अरु निहोरि ।
तब बोले हम यौं समय पाय, वाणी अवसरही पै सुहाय ।

३०

हे मातु ! वृथा कत करहु शोक ? सुनि कैहहिँ कह बुधिवन्त लोक ?
जामे न कछू अपनी बसाय, खेदित तदर्थ को होहि माय ? ॥

३१

सुत-वदन-धूरि धरि भूरि लोक, दुखहू महँ होवहिँ विगत-शोक।
यह सर्व सत्य ; पै सुनहु तत्त्व, कर अपने मे नहिँ ईश्वरत्व ॥

३२

सब होहिँ न जग में पुत्रवान, न तथा सिगरे धन-धान्यवान।
बुधि, विद्या, आदिक सर्व माहिँ, समता सदैव कहुँ होति नाहिँ ॥

३३

जाकी दशा जु, तिहि मे सुकर्म, करि तोष युक्त रहिबो हि धर्म।
इक पुत्रमात्र सब सौख्य-मूल ; अस कहिबो भारी मातु ! भूल ॥

३४

हे अम्ब ! कहहुँ तोसों त्रिवार, सुत में सुखसोंऽधिक दुःखभार।
यह केवल कल्पित कथासार, न करो तुम कबहूं अस विचार।

३५

हमरे सुत हाहा ! होत नाहिँ ; अस गुनि, निमग्न दुख-सिन्धु माहिँ।
जब होत ; तासु रोगादि काहिँ लखि, पुनि, दुखसागर में समाहिँ ॥

३६

यदि दुष्ट, मूर्ख, व्यभिचारि, चोर, नर पावहिँ निशिदिन दुःख घोर।
यदि गुणी ; तासु दीर्घायु हेत, पितु मात, बनैं चिन्ता-निकेत।

३७

गुणवान मरै यदि पुत्र हाय ! तब तो दुख सीमा नहिँ दिखाय।
अति अगम शोक उर छाय छाय, लै जात तहँ जहँ पुत्र जाय ॥

३८

शत सहस माहिँ कहुँ इक सपूत, लखि परै ; शेष सारे कपूत।
निज नैननि सों स्वयमेव नित्य, जननी ! तुम देखहु सत्य सत्य ॥

३९

सुविचारि, यथा-विधि, सर्व बात, नहिँ मोहिँ खेद कारण दिखात।
यदि होहि तनय दुर्गुण निधान, सुख दूरि, दुःख पावहु महान ॥

४०

यदि निर्गुण अथवा सुगुण जात,* निश्चय नहिँ पहिले होहि मात।
तो सुत-विहीन रहिबो हि इष्ट, इक हेत अर्द्धको तजहि शिष्ट॥

४१

लखि मातु, पिता, सुतसुता हाल, घर घर में सबके अति कराल।
हम भाग्य आपनो धन्य मानि, सुखसों नित सोवहिँ वस्त्र तानि॥

४२

तुम हौ जबलौं, तबलौं तिहारि, आदेश हस्त करिहैं हमारि।
पीछे त्वदीय कथनानुसार, ह्वै है समस्त अन्त-प्रकार॥

४३

धन, धाम देखि मोंको न शोक, यदि होत हाथ मेरे त्रिलोक।
सब दै, शरदिन्दु-मयूख-भास, हम लूटित यश बिनही प्रयास॥

४४

दुर्दैव जो न अस करन दीन, पत्नी प्रयाण पहिलेहि कीन।
तो, जो यह भारतवर्ष राज, संभारत सब के देखि काज॥

४५

सोई मदीय अत्यल्प धाम, पट, पुस्तक, पृथ्वी और दाम।
लै, यथा योग्य करि तदुपयोग, सकिहै न, कही अस कौन लोग?

४६

बहु पुत्रवान जनके निशान, मिट गए, न कोऊ कतहुँ जान।
पै सुयशवान, जउ पुत्रहीन, भे अमर; विश्वबिच नाम कीन॥

४७

सुतही सुमुक्ति-दाता प्रवीन; अस बोलहिँ केवल बुद्धिहीन।
जिहि जाति माहिँ नहिँ पिण्डदान, सब जावै नरकहि! कह प्रमान?

४८

सत्कर्म्म, धर्म्म, अरु दयाभाव, उपकार, सदा सरल स्वभाव।
सन्मुक्ति हेत एही समर्थ; आडम्बर और विशेष व्यर्थ ४८॥

४९

मरणोत्तर चाहै मम शरीर, सुरसरित जाय, वा ताल तीर।
छिति, नभ, जल, पावक, पवन-जाल, जहँ के तहँ जैहहिँ अन्तकाल॥

---

* जात = पुत्र।

५०

मम बन्धु विश्व, तौ जे विशेष, मत्प्रीतिपात्र तिनमें अशेष ।
अवलोकि आजु मेरोऽवलम्ब, मन में जनि अचरज करहु अम्ब ॥

५१

हौं सम्प्रति मैं जिन पैऽनुकूल, ते द्वेष करैं जउ तउ न शूल ।
मन समुझब अस, तिन कृपा कीन, गत जन्म, तासु हम फेर दीन ॥

५२

आद्यन्त मातु ! ताते विचारि, तुम धरहु धीर, सब दुख बिसारि ।
परितोष वाक्य मैं यौं उचारि, आयहुँ इत; सम्मति कह तिहारि ?

५३

सुहृद कथित वानी सत्यतासारपूरी,
श्रुतिपथ इमि आनी, वाह वा भाषि भूरी ।
निज मत कहि तासों, वायुसेवानिमित्त,
हम उपवन आए दोउ विश्वस्तचित्त ॥

स्वप्न ।

(४ दिसम्बर १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

१

कविवर लक्ष्मणसिंह भूपको आत्मरूप अविनाशी,
नगर आगरा ते चलि पहुँचो जब सुरपुर सुखराशी ।
दरश निमित्त चित्त उत्कण्ठित हिए बढ़ाय हुलास,
गयो, प्रथमही, और छोड़ि सब, कालिदास के पास ॥

२

माँसहीन मानुस की ठठरीठठ्ठ समान शरीरा,
पुतो मनहुँ मुख ऊपर कारो कज्जल जल गम्भीरा ।
रोष-शोक-सन्ताप-जर्जरित अस कविकुल-गुरु-रूप,
लखि सशंक भयभीत भयं अति मन में लक्ष्मण भूप ॥

३

क्रमशः परिचय पाय कवीश्वर डगमग पग संभारी,
उठे मिलन हित, अश्रु बहावत, दोऊ भुजा पसारी ।

सकुचे लक्ष्मणसिंह प्रथम, कहुँ हाड़ न हिय गड़ि जाहिँ,
सोचि समुझि पै लयो लगाई निज हृदय-स्थल माहिँ ॥

४

कछुक काल इकएक परस्पर देखत रहे दुखारे,
मुखते कढ़ै न बात, यत्न बहु दोऊ करि करि हारे।
क्षत्रिवंश अवतंश क्षणिक महँ धीरज हिए दृढ़ाय,
बोले;—कालिदास जी ! कहिए अपनी दशा बुझाय ॥

५

यश दिगन्तगामी तव, मुख पै कत मलीनता छाई ?
किहि कारण अति कशित भयो तनु ? दृग जल कत अधिकाई ?
सुनि अस प्रश्न और दुख दारुण मानहुँ तोरि कपाट,
निकरि परो लोचन-जल मिसते गहि मनमानी बाट ॥

६

गद्गद-कण्ठ, विकल, विह्वल वह रहे दण्ड इक भारी,
कविवर लक्ष्मणसिंह सांत्वना विविध भाँति उच्चारी।
अश्रु पोंछि, बहु बार वस्त्र सों, लै लम्बी निश्वास,
जिमि तिमि दशा सँभारि आपनी, बोले कालीदास ॥

७

इत आए भे दिवस मोहिँ बहु, कवितावधू हमारी,
रही उतैहि भरत भूमी महँ मम प्राणन ते प्यारी।
यद्पि वियोग होतही मेरो भइ वह निपट अनाथ,
पटकि पटकि सिर मित्र ! आपनो फोरो वाने माथ ॥

८

छाया यदपि पाणिपल्लव की पाय पवित्र तिहारी,
रण्डा-दशा-जनित-दुख-संसृति वाने कछुक बिसारी।
हाय ताहि तुमहूं तजि आये उर कठोरता धारि,
मित्र ! मरी अब बिना मीचु वह हाहा ! प्रिया हमारि ॥

९

प्राणिमात्र कहँ नारि पियारी, जानत सब संसारा,
कवितावधू परमरसिका मम हती प्राण आधारा।
तासु दुर्दशा देखि हिय के होवहिँ खण्ड हज़ार,
रौरव नरक समान स्वर्ग यह दैवै दुःख अपार ॥

१०

विक्रम, भोज आदि भूपालन जाहि महा सनमानी,
छोंड़ि ताहि, तोता मैना की नृप अब सुनें कहानी।
दुःख तुम्हें प्रियतमे ! प्रिये ! हा प्राणाधिके ! अथाह ;
सोचि सुखानो तनु मम ; मुखते निकरत निशिदिन 'आह' ॥

११

लखि कामिनि कमनीय अरक्षित, विविध लोग जग माहीं,
चाहहिँ करन आपनी ताको यदपि योग्यता नाहीं।
तद्वत् कविता प्रिया हमारी इत उत ऐंची जात;
हे त्रिशूलपाणे ! त्रिपुरान्तक ! धावहु बिगरति बात ॥

१२

रसके रुचिर भेद नहिँ जानत तद्यपि बाहु पसारी,
वा रसिका सों चहहिँ, मोहवश, आलिंगन, बलिहारी।
भागै दूरि घृणा करि जउ वह, सरै न एको काज,
तऊ बलात्कार में इनको आवै तनिक न लाज ॥

१३

रसिक शिरोमणि कालिदास बिनु अन्य पुरुष रसभाखी,
वाहि लखाहिँ हीन, पौरुष बिन, अहहिँ विबुध मम साखी।
पति अब वाहि और नहिँ भावै विधवा वर्ष करोरि,
चाहै रहै, सहै दुख दारुण मित्र ! बहोरि बहोरि ॥

१४

माता सम अथवा भगिनी सम जानि, ताहि घर आनी,
सेवै जो सनेह युत, ताकी करै सदा मनमानी।
तुम औ नासिकस्थ 'लेले' हू हैं प्रत्यक्ष प्रमान,
दिग्गामिनी कीर्ति दोउन की; जानत सबै जहान ॥

१५

अनुचित भाव धारि, हठ ठानी, नर, असमर्थ घनेरे,
व्यर्थ वशी करिबे कहँ ताको, करैं यत्न बहुतेरे।
महा सरस रमणीया रमणी विरस होति यहि भाँति,
जिमि हँसी लखि ताल तीर पै उजरी बगुलन पाँती ॥

१६

सहृदय-लक्षण-हीन सकैं नहिँ वाको जब अपनाई,
    चित्र विचित्र वस्त्र छल बल करि देहिँ ताहि पहिराई।
आडम्बर असि घृणित देखि वह औरहु दूरि पराय;
    हाहा प्रिये! तिहारी या विधि, दुर्गति देखि न जाय॥

१७

जरमन में कोऊ पत्ती-पर-खचित टोप उपजाई,
    फ्रांसदेश पेरिस में कोऊ चोली चारु सिलाई।
गौन बनाय पायलौं कोऊ लंदनवासी वीर,
    करन चहहिँ अनुकूल ताहि हठि हाय! होय सुनि पीर॥

१८

पूना-नागपूर-मदरासी धोती रंग रँगीली,
    लोगन पकरि पकरि पहिराई काली, लाली, पीली।
कहुँ बनारसी, कहुँ कलकतिया, कहूँ बम्बई-जात,
    सारी लाय लाय लिपटाई कविता-कामिनि-गात॥

१६

घेरदार घांघरो अवधको कोऊ बुरो बनाई,
    ग्राम-वधूटिनहू की, जिहि लखि, उठैँ आंखि अधिकाई।
बरबस पकरि प्रियाकी चोटी तन महँ दीन ढकेलि,
    हाहाकार सुने नहिँ नेकहु वाके जानि अकेलि॥

२०

असि अनर्थ निज नैननि सों तुम दीख मित्र! बहुतेरे,
    पूछँहु तऊ भए किहि कारण अंग दूबरे मेरे।
लखि निज तिय अपमान जासु मुख मर्षीवर्ण नहिँ होय,
    रोषवेग-वश, सत्य कहहिँ हम, जानहु मनुज न सोय॥

२१

इतनीहूँ करि रसिक-शिरोमणि ये न रहहिँ अरगाई;
    आगे करैं जु ताहि देखि हिय टूक टूक है जाई।
वशीभूत जब होति न वह तब तत्प्रतिबिम्ब बनाय;
    राखन चहहिँ गेह अपने महँ, हा! हा! हा अन्याय॥

२२

चित्र-कला-कौशल्य सिखे बिनु हस्त लेखनी धारी,
बैठहिँ तत्प्रतिरूप उतारन करि अभिलाषा भारी।
चित्र दुर्दशा देखि उड़ैं सब मेरे होश हवास;
उमगैं एक बारही तीनौं क्रोध, शोक, उपहास॥

२३

प्रतिकृति-लेख-परिश्रम सों जनु पाय प्यास अधिकाई,
लावण्योदक प्रथमहिँ क्रमशः घट घट जाहिँ चढ़ाई।
कोमलता तनकी, प्रसन्नता मुखकी, बहुरि बहाय;
ये कृतार्थ होवहिँ रविवर्म्मा के प्रतिपक्षी हाय!

२४

मुग्ध-रूप मोहक कविता को क्रम क्रम सबै नसाई,
जरठा साठि वर्षकी लिखि कै मारहिँ वृथा बड़ाई।
हाट बाट सब माहिँ दिखावहिँ; फूले उर न समात;
हे हे विषम-विलोचन! अनरथ नहिँ अस देखो जात॥

२५

महा महाकवि कोउ दिखावत अतिशय हाथ सफाई;
अङ्ग अङ्ग कविता की दुर्गति करैं नित्य अधिकाई।
यदि कटि लिखैं, न कुच; यदि सीधो कर, मुख वक्र बनाय;
एक पैर काटैं, इक राखैं, त्रिनयन! होहु सहाय॥

२६

श्रीभवभूति आदि औरहु कवि रसिक-शिरोमणि सारे;
बसि स्वर्गहु में सहत याहि विधि कष्ट नरक सम भारे।
निज निज प्रिय-कविता-वनिता की देखि दुर्दशा भूरि,
धुनो करैं सिर, अकविवृन्द को साहस निंद्य विसूरि॥

२७

कविता-कुलकामिनि-कलाप की दुर्गति कहि नहिँ जाती;
को अस सहृदय विश्व बीच, सुनि जाकी फटै न छाती?
इतनो स्वप्न देखि हम, इक निशि, जागे प्रातःकाल;
कालिदास नहिँ कहुँ, तथैव नहि लक्ष्मणसिंह भुवाल॥

—:o:—

मेघोपालम्भ।

—:o:—

(४ सितम्बर १९८९ के हिन्दी वङ्गवासी में प्रकाशित)

१

मेघ ! त्वदीय अनरीति सही न जाई;
कहूं न बूँद, कहुँ दीन नदी बहाई।
नावौ धराधरनि ऊपर वारिधारा;
अत्यन्त घोर अविचार अहो तिहारा॥

२

नीकी यथासमय वृष्टि भए बिनाहीं,
बोयो न बीज जिन लोगन भूमि माहीं।
तन्मर्म्मकृन्तक कथा सुनि हाय ! हाय !
होवै न को विकल दुःसह दुःख पाय ?

३

देखैं कहूं कहुँ जु शस्यलता-वितान,
ज्वारी, तिली, मृदुल मुद्ग, मोठ, धान।
ज्यों ज्यों सुखाहिँ नित ते, दुखिया किसान,
त्यों त्यों करैं रुदन; सूखत जात प्रान॥

४

सप्ताह, पक्ष, दिन, रैनि, घरी प्रमान,
त्वन्मार्ग दीख हम सर्व्व सदा समान।
बीते द्विमास नहिँ वारिद ! वारिदान;
ठानी कहा ? कत करौ विनती न कान ?

५

"आर्द्रान्तरात्म बहुशः करुणार्द्र होहीं";
भूली तदुक्ति कविकी कह आजु तोहीं ?
देखौ, सुनौ, जलद ! चित्त करौ विचार;
हाहामयी सकल ओर उठी पुकार॥

६

तेरे बिना गगनमण्डल नाहिँ सोहै;
कोऽन्य त्वदीय चपला बिनु चित्त मोहै ?
हे मेघराज ! तुम आजु कहां सिधारे ?
हारे पुकारि हम भूतललोग सारे॥

७

एहो घन ! प्रथम आय महा अथाह,
हाहा बहाय जिन दीन पयः प्रवाह ।
देवौ न बूंद इकहू, तुम सोइ भाई !
लज्जाहु, दीनदुख देखि, तुम्हैं न आई ॥

८

चारा नहीं ; चरहिँ काह पशू बिचारे ?
सूखीहु घास मिलती नहिँ, खोजि हारे ।
जो लोग-कष्ट लखि तोहिँ दया न आवै,
तो काह मूकपशु-दुःखहु ना दुखावै ?

९

वापी, तड़ाग, अरु कूप सुखान लागे ;
पक्षी, पशू अबहिँ ते बिललान लागे ।
रोग प्रजाविपिन-तीक्ष्ण-कुठार जागे ;
पानी बिना न बचिहैं इकहू अभागे ॥

१०

श्रीकृष्ण-वर्ण करुणाकर केर पाई,
सीखी कहां इतिक मेघ ! कठोरताई ?
प्राणातिरिक्त हरिकी प्रिय धेनु सारी ;
देखौ, उठाय सिर, काह कहैं दुखारी ?

११

अन्नाम्बुदान जिन जीवन को हमेशा,
दै प्राणरक्षण कियो तुम निर्विशेष ।
कारुण्यपात्र तिनहीं कर आजु काहा,
हत्या प्रकाण्ड करिहौ घन ! घोर हाहा ?

१२

ताते अहो जलदराज ! हिय विचारी,
आवौ अवश्य जनदीन-दशा निहारी ।
नावौ यथा-उचित वारि मही-मझारी,
भारी विपत्ति, यहि भाँति, हरौ हमारी ॥

—:o:—

शरत्सायङ्काल ।

(१३ नवम्बर १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

१

जाके पूर्व, प्रतिपद, घने केतकी-कुञ्ज, बाग,
झांसी में है विमल जल सों पूर्ण "लक्ष्मीतड़ाग"।
एक प्यारो सुहृद सँग लै, जाय तत्तीरदेश,
सायंशोभा शरदऋतु की देखि जो जो विशेष ॥

२

सो सो सारी गुनि निज हिए नित्यही बारबारा,
मोदोद्रेकद्रवित सिगरो देह होवै हमारा।
कोकावेली, पवन सियरी, वारि की चारुताई,
को है ऐसो, करहिँ नहिँ ये जासु तल्लीनताई ?

३

नाना पच्छी अरुण पियरे पाद औ चंचुवारे,
चन्द्र-ज्योत्स्ना-सम-सित घने पक्षतिद्वंद्व धारे।
धीरे धीरे विरुत मिस ते सर्व साथी बुलाई,
ऊँची ग्रीवा करि करि उड़े पंक्ति सो पंक्ति लाई ॥

४

थोरी वेला कलकल भयो पक्षिसम्भूत भारी ;
मानौं शालाशिशुगण तहां वेदवाणी उचारी।
पश्चात् भृङ्गाऽऽरव तजि, चहूँ पूर्णतः शान्ति छाई ;
तत्कालीन प्रियवर! कही जाय ना रम्यताई ॥

५

चेतोहारी सुभगनवलानारिवक्षोजरूपा,
ऊंची ऊंची कुमुदकलिका स्वच्छ अच्छी अनूपा।
वारंवार स्परशि सलिल स्निग्धता संग लाई;
गन्धोद्ग्राही अनिल अखिल श्रान्ति देवै नसाई ॥

६

शाली-पंक्ति-प्रचुर-रचना शोभतीं जासु तीरा;
अम्भोजाऽऽली-दल सन छिपो मध्य में जासु नीरा।
छोटी छोटी चपलशफरी खेलतीं जासु माहीं;
शोभाशाली अस सर करै काहि सन्तुष्ट नाहीं ? ॥

७

येही भृङ्ग भ्रमि दिवस में पद्मिनीसङ्ग माहीं;
आये धाई शठ अब इतै ; नेकहू लाज नाहीं।
मानौ योंही कुमुदवनिता षट्पदव्रात काहीं;
वाताघातच्छल सन शिरः कम्प कै कै रिसाहीं॥

८

ज्योंहीं सायंसमय सविता रक्तिमा धारि भारी;
अस्त प्रायः भयहु गगनग्रामलीला निवारी !
त्योंहीं काष्ठानल महँ जरि व्योमलक्ष्मी दुखारि,
तारारूपी प्रकटित करीं आपनी अस्थि सारी॥

९

ज्योंहीं चण्डद्युति दुरि गयो, चन्द्रमा त्योंहिँ आई,
व्यक्त व्योमाङ्गण महँ भयो हर्ष निःसीम पाई।
होवैं एक प्रमुदित, पर त्रस्त, तत्काल लोग;
हा हा देखौ विषम विधि के पूर्वकर्मानुयोग !

१०

जैसे जैसे विशदशशि की भासपीयूषराशी;
आकण्ठाग्र द्रुततर करीं पान, लै लै उसासी।
तैसे तैसे विकसनगति व्याज ते एक एका,
देखादेखी कुमुद उदरस्फोट पावैं अनेका॥

११

ऊंची ऊंची चपललहरीमध्य देखो निशेश-
च्छाया कांपै मनहुँ भय सों भानुके निर्विशेष।
जौहू लोकत्रय यशकथाकौमुदीकीर्ण होवै;
तौहू को न प्रबल-रिपुज-त्रास सों धैर्य्य खोवै ?॥

१२

नेत्रानन्दप्रद शरद की चन्द्रिका चारुताई;
मन्द-स्निग्ध-श्वसन-सुखमा, नीरलीलानिकाई।
होवै चित्तस्थित जब, रहै मोद मर्य्याद नाहीं;
आधि, व्याधि, क्षण भरि, जिती सर्व बाधा बिलाहीं॥

——:o:——

श्रीधर सप्तक।

(२९ दिसम्बर १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

१

बाला-वधू-अधर-अद्भुत-स्वादुताई,
द्राक्षाहु की मधुरिमा, मधुकी मिठाई।
एकत्र जो चहहु देखन प्रेम—पागी,
तो श्रीधरोक्त-कविता पढ़िये ऽनुरागी॥

२

पीयूष है यदि पदार्थ, यथार्थ, कोऊ,
काहे न ताहि करि पान प्रसन्न होऊ?
प्रत्येक पद्य, प्रति पङ्क्तिहु मे, सदाहीं,
सो विद्यमान कवि-श्रीधर-काव्य माहीं॥

३

जाकी कवित्व-पद-कोमलताऽधिकाई,
आबाल-वृद्ध-जन चित्त लयो चुराई।
सोई कवीन्द्र-विजयी जयदेव आई,
न्ह्योऽवतार कह श्रीधर-देह पाई?

४

माधुर्य्यमन्त्र, रसरञ्जन-सिद्धि धारी,
अत्यन्त-कोमल-कवित्व-कलाप-कारी।
जाके कहे सुयशगति सुनै सुरेश,
आयौ सु अर्गलपुरी कह किन्नरेश?॥

५

कोऊ कहूँ मृदुल पद्य सकै बनाई,
स्वारस्य-युक्त कहुं कोउ सुअर्थ लाई।
लालित्य-लास्य, रसराशि, सदर्थ-गाथा,
सोहैं सदैव सब श्रीधर-काव्य साथा॥

६

बानी बसै सुकवि-आनन में सयानी,
मानी जु जाय यह बात सुनी पुरानी।
तो सत्य सत्य कविता कविरत्न! तेरी,
बाही त्रिलोक-परिपूजित-देवि-प्रेरी॥

७

तोसौं कहौं कछु कवे! मम ओर जोवौ,
हिन्दी-दरिद्र हरि तासु कलङ्क धोवौ।
होवौ शतायु; सुख सों रहि, दुःख खोवौ,
फैलै त्वदीय यश; सर्व-व्यथा विगोवौ॥

प्लेगस्तवराज।

(१९ मार्च १९०० के भारतमित्र में प्रकाशित)

ॐ अस्य श्रीप्लेगस्तवराज—महामन्त्रस्य डाक्तरयमराजाचार्य्य डबल यम, डबल डी, ऋषिः; पटापटच्छन्दः; श्रीप्लेगदेवता; ह्रींशक्तिः; ध्रीं कीलकम्; बद्बीजम्; सर्व—स्वाहाकरणार्थे जपे विनियोगः।

ॐ ह्रूीं ध्रीं मारय मारय मारय—इति मन्त्रः। अथ करन्यासः—च्यूहावाहनाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। होशहारिणे तर्जनीभ्यां नमः। महाक्लेशकारिणे मध्यमाभ्यां नमः काल—स्वरूपिणे अनामिकाभ्यां नमः। प्रचण्डशक्तिधारिणे कनिष्ठिकाभ्यां नमः। प्राणसंहारिणे करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। अथ अङ्गन्यासः। महाशूलोत्पादकाय हृदयाय नमः। पकड़ कर प्लेग अस्पताल--नेत्रे शिरसे स्वाहा। अङ्ग प्रत्यङ्गदारुणपीड़ादात्रे कवचाय हुम्। अत्युग्रसन्निपातकर्त्रे नेत्राभ्यां वौषट्। गृहद्वारपुत्रकलत्रबन्धनविनाशिने अस्त्रत्रयाय फट्!

अथ ध्यानम्:—

ध्याये सदैव मनुजक्षयहेतुभूतं
दंष्ट्राकरालवदनं किल कालरूपम्।
प्राणापहारकरणे निपुणं नितान्तं
प्लेगं विशालबदकारणमादिदेवम्॥

२ अथ पूजापद्धतिः। इस पूजा में प्लेग की आराधना करनेवाले की अश्रुधारा पाद्य है । उसके कुटुम्बियों की आंखें अर्घा हैं और उनसे गिरनेवाला जल अर्घ हैं। दांत पीसना अक्षत है। हाय हाय करते हुए ऊर्ध्व श्वास लेना धूप है। निराशा दीप है। दवाइयां पुष्प हैं । सन्निपातनाशक लेप चंदन है । बर्राना मधुपर्क है । घर की अथवा अस्पताल की चारपाई यूप [खूँटा] हैं । उसी यूप में, बलिदान के निमित्त, आशारूप रज्जू से प्राणपशु बँधा है। औषधोपचार खड्ग है। डाक्टर हाफकिन पुरोहित हैं।

३ अथ स्तवराजः। हे प्लेग! हे प्लेगराज! हे मारकासुर! आप को हम किस नाम से पुकारें? विष्णुसहस्रनाम के समान यदि एक प्लेग सहस्रनाम बनता तो भी आप के नामों की गणना निःशेष न होती। कोई आप को मरी कहता है; कोई विसर्प कहता है; कोई प्लेग कहता है; और कोई ग्रन्थिक सन्निपात कहता है। परन्तु ठीक ठीक कोई नहीं कह सकता कि आप कौन हैं । रूप तो आप का समझ में आ गया है; परन्तु नाम अभी तक किसी की समझ में नहीं आया । अतः हे बोख़ार के खालू! हे बद के दादा! हे सन्निपात के प्रपितामह ! आप तब तक यही नाम ग्रहण करें!

४ आप ब्रह्मा हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं। नहीं, नहीं, ब्रह्मा से भी बड़े हैं। ब्रह्मा बिचारे को उत्पन्न करना ही आता है; मारना नहीं आता; मार वह एक खटमल तक भी नहीं सकता । परन्तु आप विलक्षण स्वयंभू देव—क्या दानव हैं। बिना सूचना के, बिना पूर्व रूप के, अकस्मात्, कुश्क में रूसी सेना के समान, आप प्रकट हो जाते हैं और एक एक का संहार करते चले जाते हैं। अतः हे रुद्र-ब्रह्मरूपिणे युगपत् सृष्टिसंहारकारिणे तुभ्यं नमोऽस्तु।

५ हे ब्यूबानिक प्लेग! आप वामन-ओ, नो, (O no) त्रिविक्रम हैं। पहले आपने अपना बालस्वरूप बम्बई में दिखलाया; फिर धीरे धीरे पूना, शोलापुर; धारवाड़, बंगलौर, मदरास, कराची, पञ्जाब, नागपुर, कलकत्ता आदि तक बढ़ कर अब पश्चिमोत्तर देश में भी आपने अपना पैर फैलाया है । परन्तु याद रखिये; आप का आगे बढ़ना अच्छा नहीं। अधिक हौसला दिखलाने से सर अंटोनी मेक-

डानलरूपी बलि आपको सात समुद्र पार, महाप्रलय तक, अहो-रात्र खड़ा रक्खेगा। अतः होशियार !

६ हे महामारी के मामा ! आपकी सत्ता सब कहीं जागरूक है; अतः आप सर्वव्यापी विष्णु हैं। आप सहस्रलिङ्ग स्वयंभू शंभू भी हैं, क्योंकि गिलटी के बहाने आप का लिङ्ग मनुष्य की बग़ल में, गरदन में, जांघ की जड़ में—सब कहीं—आपही आप उत्पन्न हो जाता है। इन लक्षणों से आप हरिहर—रूप हुए। अतः "हरिहराकारामुदारां तनुं" ते नुमः।

७ हे विसर्प के बाबा ! कहते डर लगता है; परन्तु हम कहे ही डालते हैं कि, आप अजीब सिफ़ारशी टट्टू हैं। पहले और दूसरे दरजे के टिकट का लालच दिखलाते ही आप अपने भक्तों को अभय कर देते हैं। फिर चौसा के मौसा की भी दाल नहीं गलाई गलती। परन्तु यह रिश्वत सच्चे दिल से न देने से, आप देनेवालों को अलीपुर, नैनी इत्यादि में बने हुए बिना भाड़े के बड़े बड़े घरों की हवा खिलाते हैं ! लोग कहते हैं मक्खी और बाल हज़म करने वालोंहीं को रिश्वत हज़म होतीहै, फिर, आप भला क्यों न हज़म कर सकें ? आपनेतो अनगिनत जीव और बालों से खचा खच भरे हुवे अनगिनत भूँड़ खाए हैं। हे सर्वभक्षक ! मनुष्यों की अन्धी खोपड़ी आपका स्तोत्र गानेमें असमर्थ है।

८ हे सन्निपातराज ! हमने सुना है कि जब आप का मानुषी नैवेद्य कम हो जाता है तब आप बन्दरों पर भी हाथ फेरने लगते हैं। परन्तु ज़रा पुरानी दिल्ली और पुरानी लङ्का का स्मरण कर लीजीए। आप के लिये इतनाही इशारा काफी है !

९ हे नरारण्यहिरण्येरत ! आपको साक्षात् अग्नि कहने में क्या आपत्ति है ? आपका आगमन होतेही ज्वराग्नि का वेग डाक गाड़ीकी गतिके समान बढ़ता हुआ, थोड़ी ही देरमें, खाण्डव जलाने के समय का सा रूप धारण करता है। अतः अग्निमीड़े प्लेगरूपं त्वं मां पाहि पुरोहितम्।

१० हे प्रलयंकर प्लेग ! आप के दया तो छूही नहीं गई। निर्दयता में आप नाना साहेब के भी नाना हैं। ज़रा ज़रासे बच्चों को आप बि-

ना बाप का कर डालते हैं। जिनका द्विरागमन तक नहीं हुआ ऐसी अल्पवयस्का बालाओं को आप विधवा कर डालते हैं। जिन के एक ही पुत्र है उनको भी आप अपुत्री करने से नहीं 'हिचकते'। जान पड़ता है आप के कलेजा ही नहीं है! और अगर है भी तो ईस्पात का है; अथवा पत्थर का है। अतः हे "वज्रादपि कठोर"! आपको दूरही से दस्तबस्ता सलाम करना चाहिए।

११ हे प्लेगावतारी कालभैरव! आप का नाम सुनते ही कलेजा कांप उठता है। नगर में आप का आगमन होतेही घर, द्वार, लड़के बाले, कपड़े लत्ते छोड़ कर, मनुष्य इतस्ततः भागते फिरते हैं; परन्तु आप उनको फिर भी नहीं छोड़ते। आप का प्रचण्ड दण्ड उठते ही श्मशानयात्रा का प्रस्थान लोगों को रखनाही पड़ता है। आप की बदौलत अगणित कपाल ढुलकते फिरते हैं। हड्डियों के भी इतने ढेर हो गए हैं कि एक क्या चाहे लाखों दण्ड तैयार कर लिए जावें। सर्पों का जनेऊ बनाने की तो बात ही जाने दीजिए, क्योंकि आप स्वयमेव वासुकी, काली आदि सर्पों से भी अधिक भयङ्कर विषधर हैं। अतः—

करकलितकपालः कुण्डलीदण्डपाणि-
स्तरुणतिमिरनीलव्यालयज्ञोपवीती।

यह वर्णन आप के अनुरूप नहीं; इससे बढ़कर होना चाहिये! इतनी शिष्टता आप अवश्य दिखलाइए कि जो आप के मन्त्र का अनुष्ठान करें उनको अपनी दंष्ट्रा से बचाए रखिये। मन्त्र आप का यह है:—

ॐ ह्रीं प्लेगाय जीवितोद्धारणाय कुरु कुरु प्लेगाय ह्रीं।

१२ हे गिल्टी रोग के गवर्नर! आप के यमराज होने में कोई संशय नहीं। यमराज तो एकही आध के ऊपर कभी कभी अपना त्रिशूल उठाते हैं; आप तो कुटुम्ब के कुटुम्ब स्वाहा करते चल जाते हैं; परन्तु फिर भी आप का पेट नहीं भरता। आप का शूल बहुत ही भयानक है। आप अपने वाहन भैंसों से तो नहीं बोलते; परन्तु गणेश के वाहनों को ढूँढ़ ढूँढ़ प्लेगलोक को पहुँचाते हैं। गणेश ने भी आप से बदला लेने के लिए डी ब्रिटेन साहब को अपना एजण्ट बनाया है। यही कारण है जो अहमदाबाद के आस पास आप का

एक भी प्यारा भैंसा और उसकी एक भी प्यारी भैंस नहीं बचने पाती। उस प्रांत में आप बहुत दिन तक रहे हैं; इसीलिये गणेश ने वहीं अपनी एजन्सी खोली है। हम में तो बदला लेने की क्या आप के सम्मुख होने का भी शक्ति नहीं। अतः, यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः तस्मै देवाय भवते हविषा विधेम।

१३ हे प्लेगराज! आप रसिकों के शाहनशाह हैं। महामारी का अस्पताल आप की राजधानी है। पुलिस और पल्टन के गोरे आप के पताकाधारी नक़ीब हैं। डाक्टर आप के पार्षद हैं। सेग्रीगेशन कैम्प आप का क्रीड़ाकानन है। वहीं आप और आप के आश्रित लोग नाना प्रकार की क्रीड़ायें किया करते हैं। कभी जलविहार देखते हैं; कभी एक एक की गठरी खोलकर चित्र विचित्र वस्त्र और वस्तुओं से अपने नेत्र सफल करते हैं; और कभी स्त्री पुरुषों की गिलटियां टटोलते हैं। इसी प्रकार आप अपना दिल बहलाते रहते हैं। जिसमें आप प्रसन्न रहें उसी में हमारी भी प्रसन्नता है; परन्तु हमारे आबरू रूपी जहाज़ की पतवार जो आप के हाथ में है; उसे मत छोड़ दीजियेगा। हम हा हा खाते हैं! त्वां प्लेगदेवं शरणं प्रपद्ये।

१४ हे सन्निपात-शिरोमणे! आप को हम सफाई के मोहकमे का सब से बड़ा अफसर समझते हैं। आप मनुष्यों की, चूहों की और बन्दरों की तो सफाई करते ही हैं, मकान और गली कूचों तक की सफाई आप के भय से, समय समय पर, हुआ करती है। यों साल में, दिवाली पर, एकही बार मकानों की सफेदी होती थी, अब आप के प्रभाव से कई बार दिवाली के दिन याद आते हैं। ऐसे तो आप गन्दे मकानों के भीतर चोर के समान छिपे पड़े रहते हैं; परन्तु सफाई होते ही आप भग खड़े होते हैं। इससे हम क्या समझें? सफाई से आप को रग़बत है या नफरत? आप की माया कुछ समझ मे नहीं आती! अतः, मायाविनं त्वां शिरसाऽभ्युपैमि।

१५ हे सर्वापहारिन्! जिस कृपाकटाक्ष से, जिस दयार्द्रभाव से, जिस प्रेमदृष्टि से आप इस समय डाक्तर और दाइयों को देख रहे हैं, उसका विचार करके बुद्धि चक्कर में आ जाती है। आप ही

के प्रभाव से आज कल इनकी धेली छटके की चल रही है। आप की कृपा का एक कण इस ओर भी आने दीजिये। स्त्री को पति से, पुत्र को माता से और सेवक को स्वामी से पृथक् होते देख अपने वज्रहृदय को द्रवीभूत होने दीजिये। घरों का तोड़ फोड़ और गृहस्थी के सामान का सत्यानाश होते देख क्या आप का कठोर कलेजा ज़रा भी नहीं दहलता? आप का स्तवन करने की हम में शक्ति नहीं। हम एक यः कश्चित् मनुष्य हैं। अतः हमारे थोड़े ही कथन को आप बहुत समझिए। हे ज्वरज्वालामालिन्! हे प्रतिप्रलयकारिन्! हे करालदंष्ट्रकाल! हे मनुष्य-क्षयकारक-प्रचण्ड पेंच! अब हम आप का स्तोत्र समाप्त करते हैं। इसका हम यही फल आप से चाहते हैं कि, इस स्तोत्र के पढ़नेवालों की ओर आप कभी भूल कर भी दृक्पात न करें! ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इमां प्लेग महाराज! पूजामादाय मामकीम।
गच्छ त्वं रौरवं घोरमित आयाहि मा पुनः॥
यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनञ्च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां प्लेग शिरसा प्रणमाम्यहम्॥

———:o:———

अयोध्या का विलाप

(मार्च १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित)

१

प्रासाद जासु नभमण्डल में समाने;
प्राचीर जासु लखि लोकपहू सकाने।
अत्यन्त-दिव्य, दृढ, दुर्ग विलोकि जाको,
आश्चर्ययुक्त मन मुग्ध भयो न काको?

२

जाकी समस्त सुनि सम्पति की कहानी,
नीचो नवाय सिर देवपुरी लजानी।

ताकी अरे निपट निष्ठुर काल ! ऐसी
तूने करी शठ ! दशा अतिही अनैसी ॥

३

प्राचीर नाहिँ; नहिँ दुर्ग; न सौधमाला;
अट्टालिकाहु नहिँ देखि परैं विशाला ।
उध्वस्त, जर्जरित, भग्न शरीर मेरो,
हाहा ! न जाय अब मोसन और हेरो ॥

४

हे राम ! हे कुश ! रघो ! रविवंशदीप
दुष्यन्त ! भव्यभरतादि महामहीप !
नाना विपत्ति सहि, हाय ! महादुखारी,
नामावशेष अब होति पुरी तिहारी ॥

५

सायंप्रभात जिन गेहनि में सदाहीं
सत्सामगान तजि दूसरि बात नाहीं ।
भल्लूक कूक दिनरैनि तहां मचावैं;
लाखौं शृगाल रव घोर घने सुनावैं ॥

६

रत्नप्रदीप रविरश्मि छटा समान
शोभायमान जहँ भे अतिदीप्तिमान ।
देखौं तहांहिँ इकहू नहिँ दीपबाती ;
काहे न होय अजहूं दुइ टूक छाती ?

७

उत्तुङ्ग-कुञ्जरघटा सुख सों अन्हाई,
कीन्हे जहां जलविहार सदैव आई ।
हा हन्त ! वाहि सरयूतट पै घनेरे
बूढ़े वराह, खर आदि फिरैं सबेरे ॥

८

सानन्द राजगण चामरछत्रधारी
कीन्ह्यौ प्रवेश जिन द्वारनि तें सुखारी ।
पैठैं कढैं तिनहिँ ते अब हाय ! हाय !
निःशङ्क चोर चिमगीदड़वृन्द आय ॥

९

वापी ;—जहां जलजजाल खिले सुहाई ;
काई कठोर तिनमें सब ओर छाई।
रत्नादिराशि जहँ हाय ! हती घनेरी ;
फैली तहांहिँ अब कङ्करकेशढेरी ॥

१०

दिव्यातिदिव्य रुचिराकृति गेहराजी ;
गच्ची महामणिमयी जिनकी विराजी।
हाहा ! अभाग्यवश, आज तहां कँटीली
है कंटकारि उपजी सित, पीत, नीली ॥

११

इन्दुप्रियामणि अनेक रहीं जहांहीं ;
जाले लगे मकरिकागण के तहांहीं।
हौं मैं सुनी जहहिँ कोकिलकण्ठ कूक ;
बोलैं अमाङ्गलिक बोल तहां उलूक ॥

१२

चन्द्राननी कमलकोमल-गात नारी
क्रीडा विचित्र जहँ कीन निशामझारी।
हाहा ! तहांहिँ अब वन्यविलाव-बाला
निर्द्वन्द द्वन्द्वसुख लूटहिँ सर्वकाला ॥

१३

बिच्छू, विषाक्त अहि, मोहिँ सदा सतावैं ;
उन्मत्त-मर्कट निरन्तरही ढहावैं।
द्वै चारि चिन्ह मम जो अजहूं दिखाहीं ;
ह्वैहैं विलीन सोउ सत्वर भूमि माहीं ॥

१४

अत्युच्च मन्दिर महार्ह जहां रहे हैं
देखो, तहां क़बर, आज, चहूं छए हैं।
अल्लाह और बिसमिल्लह आदि बैन
कीन्हो तहां बधिर मोहिँ सुनो परै न ॥

१५

जाही स्थल प्रचुर हीरन सों सँवारो
सिंहासन-प्रवर राम! रहो तिहारो।
पर्णालयस्थ, तहँ मस्जिदमध्य, देखी
त्वन्मूर्ति, दुःखदव मोहिँ दहै विशेषी॥

१६

हे कोसलस्थजन! रामपुरी दुखारी,
नाशोन्मुखी, नयननीर बहाय भारी।
सारी विपत्ति अब आजु तुम्हैं सुनाई,
मांगै विदा अहह! अन्तिम शीश नाई॥

१७

जो प्रीतिलेश कछु होहि स्वधर्म्म माहीं;
जो पै दया तुमहिँ वञ्चित कीन नाहीं।
जो देश भक्ति हिय मे कछुहू तिहारे;
तो धाय शीघ्र अव कष्ट हरौ हमारे॥

१८

नाना नरेश अजहूं चहुँ ओर छाए;
मेरेहि सन्निकट एक अहो सुहाए।
अत्यल्पहू यदि मिलै इनसे सहाय;
तौहू अदृश्य नहिँ तोहुँ विनाश पाय॥

१६

प्राचीन चिन्ह अभिभावक लाटवीर!
हे दुर्ज्जनान्तकर कर्ज्जन! धर्म्मधीर!
लीजौ बचाय म्रियमाण शरीर मेरो;
कल्याण होय सब काल दयालु! तेरो॥

—o:—

कृतज्ञताप्रकाश।

(अप्रैल १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित)

१

काहे प्रजावदन आज विकाशमान?
उत्साह हू सब कहूं कत वर्तमान?

अज्ञान बाल-वनिताहु सबै समान
चर्चा चहूं दिशि करैं कह मोदमान ?

२

सम्वादपत्र कत आज सहस्रधारा
धारा बहाय वचनामृत की अपारा।
पूज्य-प्रयागनगरस्थित-लाट केरो,
सप्रेम, शुभ्र यश-गान करैं घनेरो ?

३

सर्वत्र आज कत पश्चिम-उत्तरान्त-
वासी प्रफुल्ल अपने मन में नितान्त।
न्यायप्रियत्व निज-शासक को सराहैं;
तत्पूर्ण-आयु-पद-वृद्धि-विधान चाहैं ?

४

हां ! आज, राज-अनुशासन-पत्र पाई,
न्यायालयादि महँ, आदर सों, सिधाई।
हिन्दी असह्य दुख झेलि महा महान,
बैठी दुरन्त उरदू सँग सावधान ! !

५

ऐसो अपूर्व मुददायक दृश्य देखी,
प्रेमाश्रु-पूर-परिपूरित ह्वै विशेषी।
आनन्दगीत नरनारि-समूह गावैं;
सोत्साह उत्सव अनेक सबै मनावैं ! !

६

हे न्यायधाम ! गुण-गौरव-धर्म्म-धाम !
सत्शीलधाम ! म्यकडानल पूर्णकाम !
सारी प्रजा पुलक-पूरित-गात धारी
उन्मत्तवत् कहहि "जै जय जै" तिहारी॥

७

प्रत्येक काम हलको अथवाऽति भारी;
सत्यानुराग तव सर्व कहूं निहारी।
प्राचीन सत्यहरिचन्द गयो भुलाई;
है सत्य सत्य; न असत्य कहौं बनाई॥

८

अन्यान्य शासक निजाकृति अश्म* रूप
हैं राजमार्ग महँ छांड़ि गए अनूप ।
त्वन्मूर्ति नाथ ! रहिहै सुख सों सदाहीं
आबाल-वृद्ध सब के हृदयाब्ज माहीं ॥

९

अन्याय सों अननुरक्ति, तथैव, तेरी
न्यायानुरक्ति लखि, यों मति होय मेरी ।
न्याय स्वयं, अनय† सों डरि, भागि आयौ;
आकार धारि तव, भूतल माहिँ छायौ ॥

१०

सत्यानुरोध, नय‡, दिव्यदया-विधान,
तीनौं, त्रिवेणिवत, ये गुण भासमान ।
सीखे प्रयाग सन काह ? कहो बुझाय,
हे तीर्थराजपुर-लाट ! पुनीत-काय !

११

सारी प्रजा महँ निरन्तर विद्यमान
वात्सल्यभाव तव देखि सदा समान ।
सन्देह होय मन में यह सोचि बाता
को है पिता ? तुमऽथवा निज-जन्मदाता ?

१२

विक्टोरिया विजयिनी-वर राज्य माहीं
अन्याय-लेशहु कभू कहुँ होत नाहीं ।
पूरी प्रतीति इहि की हम आज पाई
योंहीं परस्पर मनुष्य कहैं सुनाई ॥

१३

हिन्दी-हितार्थ तुम जो कछु कीन आज;
तत्तुल्यता न सकिहै करि अन्य काज ।
लोकोपकारक किए तुम काज नाना;
पै सत्यमेव सब माहिँ इहै प्रधाना ॥

* अश्म = पत्थर † अनय = अन्याय ‡ नय = न्याय ।

१४

पतन्निमित्त रहिहैं चिरकाल सारे
ये पश्चिमोत्तर-मनुष्य ऋणी तिहारे।
औरौ अनेक दिन राज्य रहै त्वदीय,
इच्छा इती सफल शम्भु करै मदीय॥

१५

जौं लौं प्रभो! वृटिश-शासन-सूर्य चण्ड*,
अस्तित्व नागरिक-अक्षर को अखण्ड।
तौ लौं त्वदीय यश-सौरभ सों विशेष
ह्वै है सुगन्धयुत भारतवर्ष देश॥

———:o:———

बलीवर्द।

(१९ अक्तूबर १९०० के वेङ्कटेश्वर—समाचार में प्रकाशित)

१

बलीवर्द जी, मर्द गाय के, गर्द उड़ाने वाले वीर;
प्यारे वृषभ वृषभवाहन के, अति दुर्मद, अतिशय रणधीर।
नन्दीश्वर के विशद-वंशधर, कंस समान विवेक-विहीन;
षर्दराज! वृषराज! बैलवर! सुनिये कुछ निज कथा नवीन॥

२

विश्वनाथपुर में जब कोई विश्वनाथ को जाता है;
सम्मुख वहीं देख तुमको वह कम्पित हो घबड़ाता है।
भीम भूधराकार भयङ्कर रूप याद जब आता है;
म्यूनीसिपल गाड़ियों के भी बैल देख डर जाता है॥

३

जुतौ तुम्हीं हल में, गाड़ी में, चरसे तुम्हीं चलाते हौ;
बनजारों के गोन हज़ारों तुम्हीं पीठ पर लाते हौ।
तिस पर, कभी कभी, कौड़ी के तीन तीन बिक जाते हौ;
वधिक-वेध में पड़ जीतेही अपनी खाल खिँचाते हौ॥

---

* चण्ड = प्रचण्ड।

४

बूढ़े हो जाने पर भी तुम कभी विरक्त न होते हो;
किसी न किसी काम में, सब दिन, जब देखो तब जोते हो।
तुमने साहब लोगों का भी, इस सद्गुण में मात किया;
इसीलिये, सब ने, घर घर में, सादर तुमको वास दिया॥

५

अतिशय अद्भुत सहनशीलता तुम सदैव दिखलाते हो;
मार तड़ातड़ खाने पर भी सिर तक नहीं हिलाते हो।
छिले हुए कन्धे से भी तुम छकड़े नित्य चलाते हो;
बहुत कष्ट पाने पर मग में, गिरते हो, उठ आते हो॥

६

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज! महराज!
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मोहताज।
तुम्हें षण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयीजन-सिरताज।
धिक उन को, उन पर हँसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज॥

७

"म जैसा विषयी हूं वैसा और नहीं दिखलाता है"
किसी किसी कामी के मन में यह घमण्ड आ जाता है।
वह क्या वस्तु तुम्हारे सम्मुख? जब तरुणाई आती है;
काली, पीली, धवल, धूमरी धेनु न बचने पाती है॥

८

इस प्रकार की अनाचारता जब विशेष बढ़ जाती है;।
म्यूनीसिपल सभा की, तुम पर, तब रिस अति अधिकाती है।
पकड़ पकड़ तुम से वह अपना कूड़ा कीट ढुलाती है,
वहां किये का फल पाते हो, शामत पूरी आती है॥

९

सजातीय अनगिनत तुम्हारे चक्रछाप लगवाते हैं;
इस प्रकार द्वारकापुरी से आये से दिखलाते हैं।
शङ्कर-चिह्न शूल अति सुन्दर कोई कोई पाते हैं;
इस मिष, नये नये, निशिदिन, वे मज़े सदैव उड़ाते हैं॥

१०

इसी तुम्हारे जातिवर्ग ने स्वतन्त्रता–सुख जाना है;
लूट मार में यह अति निष्ठुर नादिर का भी नाना है।
यह फ़िरक़ा वृषराज ! तुम्हारा गावँ गावँ में फिरता है;
सारी कृषी स्वर्ग जाती है जहां कहीं यह गिरता है॥

११

एक बार म्यूनीसिपैलिटी का पाकर अखण्ड आदेश;
काशी के दुर्मद साँड़ों ने ढोया है कूड़ा निःशेष।
दण्ड न पाता है कोई यदि उन्हें चुरावै, डालै मार;
हुई नज़ीरें प्यनलकोड पर ऐसीही कितनेही बार॥

१२

अभिमानी में वृषभ ! तुम्हारा लक्षण सभी समाता है;
तौल तुम्हारी करैं उसी से यही चित्त में आता है।
बलीवर्द ! मत बुरा मानना, बात सत्य हम कहते हैं;
झूठ बोलने वाले से हम सदा दूरही रहते है॥

१३

गज भी जो आवै, तुम उसकी ओर न आंख उठाते हौ;
लेटे कभी, कभी बैठेही, कभी खड़े रह जाते हौ।
अभ्यागत को अभिमानी भी मन में तुच्छ समझता है;
वह उसके मानापमान का ज़रा ख़याल न रखता है॥

१४

धनी गर्व-मदमत्त, गले में गोफ गुञ्ज लटकाता है;
लटका कर, सब काल उन्हीं से अपनी आंख लड़ाता है।
तुम भी मोरपंख का गहना गरदन में सजवाते हौ;
देख देख कर उसे मनीमन फूले नहीं समाते हौ॥

१५

धनी पुरुष गद्दी के ऊपर, धोती भर कटिसे लिपटाय;
तुन्दिल तनु पर हाथ फेरता रहता है घमण्ड में आय।
वृषभराज ! तुम भी निज थल पर झूल पीठ पर से लटकाय;
पूंछ फिराते हौ शरीर पर बैठे ही बैठे सुख पाय॥

१६

बलीवर्द ! तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हौ;
मद पर भी निज उन्मदता से विजय-बड़ाई पाते हौ।
साभिमान धनवान पास भी नहीं विवेक फटकता है।
अहङ्कार-मद में वह अपने चूर सर्वदा रहता है॥

१७

यदिच देखना चाहै कोई मूर्त्तिमान अद्भुत अभिमान;
बलीवर्द ! वह रूप तुम्हारा देखै मत्त-मतङ्ग समान।
अहो भाल, कन्धा विशाल वर, शैल-शिखर सम शीश महान;
भूमि-भङ्ग-कर अहो शृङ्ग युग, अति उत्तुङ्ग अङ्ग बलवान॥

१८

खड़े खड़े जब घोरनाद तुम करते हौ सगर्व भरपूर;
तुम्हें देख कर मदमत्तों का मद होता है चकनाचूर।
होती नहीं पूंछ भी तिस पर अभिमानी नर मोंछ मरोड़;
ठसक दिखाने के करते हैं यत्न सदैव करोड़ करोड़॥

१९

"मैं कुवेर; मैंहीं सुरगुरु हूं; मेराही सब कहीं प्रमाण"
यह घमण्ड रखने वालों का मुख-दर्शन है पाप-निधान।
तदपेक्षा हे वृषभ ! तुम्हारा पीवर अण्डकोश-समुदाय;
अवलोकन करना अच्छा है; सच कहते हैं भुजा उठाय॥

२०

बिना तुम्हारे अन्न दिये नर, यमपुर जाय विचरते हैं;
अत्यादर अतएव तुम्हारा भारतवासी करते हैं।
बिना तुम्हें, इस वर्ष, देखिये, कितना कष्ट उठाते हैं;
गुर्जर और राजपूताना हाहाकार मचाते हैं॥

२१

चतुष्पाद-कुलकैरव-हिमकर ! हे वृष ! हे अति उपकारी !
बना रहै यह देश तुम्हारी कृपा-दृष्टि का अधिकारी।
बिना तुम्हारे शङ्कर का भी क्षण भर नहीं गुज़ारा है;
कारणवश, झटपट, यह हमने अल्प लेख लिखमारा है॥

शेख़ सादी की उक्तियां।

(ब्रजवासी के प्रथम खण्ड की नवम और दशम संख्याओं में प्रकाशित)

१

स्वाभाविक सौन्दर्य जो सोहै सब अँग माहिँ।
तौ कृत्रिम आभरन की आवश्यकता नाहिँ॥

२

सधन होन तैं होत नहिँ कोऊ लछिमीवान।
मन जाको धनवान है सोई धनी महान॥

३

एक कामरी में रहैं दस साधू सुख पाय।
द्वै नरेस इक देस में पै नहिँ सकत समाय॥

४

अपने जीवन तैं मनुज जो निरास ह्वै जात।
वह जो चाहै कहि सकै भलो बुरी सब बात॥

५

जो पै अपनो मित्र है मूरख निपट अज्ञान।
तौ तासों शत्रुहि भलो बुद्धिमान गुनवान॥

६

मित्र आपनो अहहि जो सब प्रकार अनुकूल।
शत्रु करैगो तौ कहा? बनो रहै प्रतिकूल॥

७

विमल मधुर जल सों भरो जहां जलाशय होय।
पशु, पच्छी, अरु नारि, नर, जात तहां सब कोय॥

८

विपति भोग भोगे गरू जिन लोगनि बहु बार।
सम्पति के गुण जानहीं वेही भले प्रकार॥

९

"कहौ सत्यही"–ईश कर यह निदेस सब काहिँ।
सत्य पथ गहि आजु लौं कोऊ भटक्यौ नाहिँ॥

१०

जानी जात सुगन्ध सों सोई मृगमद जान।
ज्ञान नाम तें होत जो तौ न खरी पहचान॥

११

पिता पितामह आदि की सम्पति जो चह लैन।
तौ तू पहले बन अवशि तिन के गुन को ऐन॥

१२

औरन के जो कहत है तोसों दोस सुनाय।
वह औरन सों कहहिगो दोस तिहारहु जाय॥

१३

बिसधर भीम भुजङ्ग को अङ्ग नासि जो कोय।
दया सपेलन पै करत बुद्धिमान नहिँ सोय॥

मांसाहारी को हण्टर।

(१९ नवम्बर १९०० के हिन्दी—वङ्गवासी में प्रकाशित)

१

सद्वंश-गर्व अपने मन माहिँ धारे
सोहै परोस महँ एक युवा हमारे।
ताकी अतीव रुचि आमिष में निहारी,
हौं, एक वार, इमि, उग्र गिरा उचारी॥

२

रे मांस-भोज-रत! निर्दयता-अगार!
रे ज्ञान-शून्य नर! सभ्य-समाज-भार!
सुस्वच्छ शीघ्र करि कै निज दोउ कान
हौं जो कहौं कछु अरे! सुनु सावधान॥

३

अत्यन्त मिष्ठ अमृतोपम दुग्धधारा,
देवै जु पुष्टि नित सेवन सों अपारा।
सन्तुष्ट देवगण जा बिनु होत नाहीं,
न प्राप्त सो कह अरे! यहि देश माहीं?

४

पीयूष-दर्प-हर बर्फ-सम-स्वरूप,
हा हा ! कहा नसि गयो दधिहू अनूप ?
माधुर्य्य-मूर्ति कहँ मञ्जुल हू मलाई,
बीभत्स भक्ष्य तव देखि कहूं सिधाई ?

५

रे रे अजान ! रसना-रत ! बोलु बोलु;
मौनावलम्ब कत ? रे ! मुख खोलु, खोलु ।
मिष्टान्नहू न कह पकहु तोहिँ भावैं ?
स्वादिष्ट मूल, फलहू न कहा सुहावैं ?

६

जो तू अरे ! कहत कम्पित होत गात
लीलै महा मलिन मांस मिलाय भात !
जानै नहीं निज-हिताहित-युक्त बात;
है हानि जाहि महँ तोहिँ सुई सुहात !!

७

अत्यन्त मोदकर मोदक मञ्जु मीठे,
तोकों न देहिँ मुद लागहिँ हाय ! सीठे ।
पक्वान्न तोहिँ नहिं तादृश तोषकारी;
तू को ? कहै न कत ? रे नररूप-धारी !

८

अच्छाच्छ अन्न अरु शाक-समूह सारे,
अन्यान्य देश तरसैं जिनको बिचारे ।
हा हा ! भरै न तिनहूं सन पेट तेरो
रे बुद्धिहीन ! जनि जीव जराउ मेरो ॥

९

आरक्त रक्त जिहि माहिँ सनो घनेरो;
मज्जा-प्रपुञ्ज सन जो सब ओर घेरो ।
जामे भरो अति अपावन अस्थि-जाल;
तू सोइ मांस गटकै नित लाल लाल ॥

१०

धिक्कार तोहिँ; नर-जन्म वृथाहि पायौ;
आहार मांस करि मानुषता नसायौ।
तो सों भले पशु; असभ्य मनुष्य आदि;
हा हन्त! हन्त!! तव जीवन-जाल बादि!!!

११

लै अस्थि, ताहि अपनै मुख माहिँ डारी,
चूसैं शुनी शुनक हर्ष विशेष धारी।
जो तूहु मोद-युत चाबतु हाड़ हा हा!
तो श्वान-वर्ग अरु तो महँ भेद काहा?

१२

जे अन्य देश-जन आमिष खानवारे,
तऊ अनेक, तजि ताहि, भए सुखारे।
पै तू सदैव सुख सों रत वाहि माहीँ;
तेरे समान नर निर्घृण और नाहीं॥

१३

जामे मलीन मल, मूत्र, रहैं सदाहीँ
नीके, भले, सकल भक्ष्य, अभक्ष्य, जाहीँ।
सोई महा-घृणित, दुर्बल छाग छागी,
तू प्रीति-युक्त उदरस्थ करै अभागी॥

१४

सर्व-प्रकार निरुपद्रव-कार दीन,
वाणी-विहीन, बल-हीन, सहाय-हीन।
ऐसे अनेक बकरे बलिदान होवैं;
तेरेहि हेत अपने प्रिय प्राण खोवैं॥

१५

माता समान पय-पान सदा करावै;
बेरी, पलाश, अरु आक, जवास खावै।
सोई अजा भखत तोहिँ न लाज आई;
हा हन्त! हा!! इतिक घोर कृतघ्नताई!!!

१६

नाई जु भूलि नख जीवित काटि देवै;
तू आर्त्तनाद करि कै कर खैंचि लेवै।
तो कण्ठ काटि पशु मारन मे कितेक
होवै व्यथा शठ! हिए महँ सोचु नेक॥

१७

जीतेहि देह सन दुःसह गन्ध छूटै;
वाणी अभद्र सुनि मानहुँ कान फूटै।
सानन्द ताहि मृत-छागल काहिँ रे रे!
तू खाय, नित्य उठि, सांझ तथा सबेरे॥

१८

जो तू, तथा अपर जे तव तुल्य, सोऊ,
संकल्प सत्य करि मांस छुवैं न कोऊ।
तो ये निरे निरपराध पशू बिचारे
मारे न जाहिँ जन-भोजन हेत सारे॥

१९

अत्यल्प काल अथवा बहु काल माहीँ;
रे! नाश है अवशि संशय-लेश नाहीं।
जो अन्त, मांस-रस-पुष्ट-शरीर छूटै;
तो मूढ़! व्यर्थ कत पातक-पुञ्ज लूटै?

२०

स्वप्राण हैं प्रिय अरे शठ! तोहिँ जैसे,
अन्यान्य जीव-गणहू कहँ मूर्ख! तैसे।
काहे कमात पर-पीडन-पाप-भार?
धिक्कार तोहिँ शतबार! सहस्र बार!!

२१

रे आत्म-शत्रु! यह निन्दित मांस त्यागु;
हिंसादि पाप सन पामर! भागु भागु।
घी, दूध, अन्न यदि है तन-पुष्टिकारी,
तो मांस खाय कत लूटतु पाप भारी?

२२

पक्षी, पशू, मनुज, कीट, पतङ्ग जो है ;
विश्वेश-अंश सब माहिँ समान सो है ।
तातें दयालु-दृग सों लखु तू सबै—ही ;
सद्धर्म्म-सार अरु तत्व-विचार एही ॥

२३

ऐसी घनी वचन-चाबुक-चोट खाई,
धिक्कारवाक्य-मय-मुष्टिकपात पाई ।
शिक्षा-प्रभाव-वश व्है वह पासवारो
तत्काल मांस तजि भक्त भयो हमारो ॥

द्रौपदी-वचन-बाणावली ।

(नवम्बर १९०० की सरस्वती में प्रकाशित)

१

धर्म्मराज से, दुर्योधन की, इस प्रकार, सुन सिद्धि विशाल,
चिन्तन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी सँभाल ।
क्रोध और उद्योग बढ़ानेवाली, तब, वह गिरा रसाल
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्तियुक्त तत्काल ॥

२

आप सदृश पण्डित के सम्मुख निपट नीच नारी की बात
तिरस्कार-कारक सी होती है हे नरपति-कुल-विख्यात !
वस्त्र-हरण-आदिक अति दुःसह दुःख, तथापि, आज, इस काल,
बार बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल !

३

तेरेही वंशज महीप-वर सुरनायक सम तेज - निधान
जो धरणी अखण्ड, इस दिन तक, धारण किये रहे, बलवान ।
हा हा ! वही मही निज कर से तूने ऐसे फेंकी आज
सिर से हार फेंक देता है जैसे महा-मत्त गजराज !

४

कपटी, कुटिल मनुष्यों से जो जग में, कपट न करते हैं
वे मतिमन्द मूढ नर, निश्चय, प्राय पराभव, मरते हैं।
उनमे कर प्रवेश, फिर उनको शठ यौं मार गिराते हैं
कवच हीन तनु से ज्यों पैने बाण प्राण ले जाते हैं॥

५

हे साधन- सम्पन्न नराधिप ! हे क्षत्रिय-कुल-अभिमानी !
कुलजा, गुण-गरिमा-वशंवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।
तुझे छोड़ कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटावैगा;
अपनी मनोरमा रमणी सम रिपु से हरण करावैगा ?

६

हे महीप ! मानी नर जिसको महा-निंद्य बतलाते हैं,
उसी पन्थ के आप पथिक हैं ; नहीं परन्तु लजाते हैं।
कोपानल क्यों नहीं आप को भस्मी-भूत बनाता है ?
सूखे शमीवृक्ष को जैसे ज्वाला-जाल जलाता है॥

७

यथा समय जो कोप अनुग्रह को प्रयोग में लाते हैं,
स्वयं देहधारी सब उनके वशीभूत हो जाते हैं।
क्रोध-हीन नर की रिपुता से कोई भय नहिँ पाते हैं;
तथा मित्रता से, वे, उसको आदर भी न दिखाते हैं॥

८

चन्दन-चर्चित-गात भीम जो रथही पर चलता था तत्र,
धूलिधूसरित वही, विपिन में पैदल फिरता है सर्वत्र !
क्या तव मन, इस पर भी, पीड़ित होता नहीं, पाय सन्ताप ?
सत्यशील बन कर अनर्थ यह हाय ! कररहे हैं क्या आप ?

९

देवराज सम जिस अर्जुन ने उत्तर-कुरु सब विजय किया,
करके हे नृप ! तुझे अकृत्रिम अतुलित धनोपहार दिया।
तेरे लिए, वही, अब हा हा ! तरु के वल्कल लाता है !
इसे देख कर भी क्या तुझ को कुछ भी क्रोध न आता है॥

१०

यहां महीतल पर सोने से, मृदुल-गात होगया कठोर !
वन-गज तुल्य देख पड़ते हैं !! जटा लटकती हैं ! सब ओर !!!
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश !
क्या तू शेष नहीं कर सकता अब भी अपना धैर्य्य-विशेष ?

११

हे नृप ! तेरी मति-गति मेरी नहीं समझ में आती है ;
चित्तवृत्ति भी किसी किसी की अद्भुत देखी जाती है !
तेरी प्रबल आपदाओं का चिन्तन करती हूं मैं जब,
मनस्ताप से फट जाता है यह मेरा हृदय-स्थल तब !

१२

मूल्यवान मञ्जुल शय्या पर पहले निशा बिताता था ;
सुयश और मङ्गल गीतों से प्रात जगाया जाता था ।
वही, आज, तू, कुश-काशों से युक्त भूमि पर सोता है !
श्रुति-कर्कश शृगाल-शब्दों से हा हा ! निद्रा खोता है !!

१३

द्विज-भोजन से बचा हुआ, शुचि, षटरस अन्न, पुष्टिकारी,
खाकर, जिसने इस शरीर को, पहले, किया मनोहारी ।
भूप ! वही तू, आज, उदर निज वनफल खाकर भरता है ;
यश के साथ देह भी अपना हा हा हा ! कृश करता है !

१४

रत्न-खचित-सिंहासन ऊपर जो सदैवही रहते थे ;
नृप-मुकुटों के सुमन-रजः कण जिनको भूषित करते थे ।
मुनियों और मृगों के द्वारा खण्डित-कुश-युत वन भीतर
अहह ! नग्न फिरते रहते हैं वेही तेरे पद मृदु-तर !

१५

यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल !
हृदय समूल उखड़ जाता है ; पाती हूं मैं व्यथा विशाल !
जिन मानी पुरुषों का विक्रम हर नहिँ सके शत्रु-कुल-केतु,
उनकी ईश्वर-दत्त हार भी होती है सुखही का हेतु ॥

१६

मुझ पर करके कृपा वीरता धारण करिये, फिर, इस वार ;
क्षमा छोड़िये; जिसमे रिपु का होवे नृप ! सत्वर संहार।
षड्रिपु-नाशक सहनशीलता निस्पृह मुनियोंहीं के योग्य ;
भूपालों के लिये सर्वदा, वह, सब भाँति, अयोग्य अयोग्य ॥

१७

तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान
हे महीप ! अरि से पाकर भी, यदि ऐसा दुःसह अपमान।
बैठे रहें, शान्त चित, धारण किये हुये सन्तोष महान,
तो हाहा ! हत हुआ, निराश्रय, मानवान पुरुषों का मान।

१८

तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य्य आदि शुभगुण-समुदाय ;
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय !
तो यह राज-धर्म्म का सूचक वीरोचित कोदण्ड विहाय ,
यहीं अखण्ड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढ़ाय !

१९

कपट कर रहा है रिपु, इससे, तुझ तेजस्वी को महिपाल !
पालन करना नहीं चाहिये पूर्व-प्रतिज्ञा-प्रण, इस काल।
अरि पर विजय चाहनेवाले धराधीश बल-बुद्धि-निकेत
विविध दोष, की हुई सन्धि में, दिखलाते हैं युक्ति-समेत ॥

२०

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आशीश
शत्रु-नाश होने पर, लक्ष्मी मिलै पुनः ऐसे अवनीश !
जैसे, प्रात. काल, सिन्धु में मग्न हुये दिन कर को आय,
तिमिर-राशि हटने पर, दिन की शोभा मिलती है सुख पाय ॥

२१

भारवि-रूपी कवि-सविता की कविता विद्वज्जन की प्राण ;
अति उद्भट, अति अगम, मनोहर, महा-अलौकिक-अर्थ-निधान
मुझ अतिशय अल्पज्ञ अज्ञ कृत यह उसका जघन्य अनुवाद
अनुशीलन कर हे रसज्ञ जन ! करिये मेरे क्षमा प्रमाद ॥

काककूजितम् ।

(जून १९०१ के छत्तीसगढ़-मित्र में प्रकाशित)

रे क्रूरकोकिल ! कलं कुरु मा कदापि ;
वाचंयमत्वमधुना भुवने भजस्व ।
जानासि किन्न नवनीरदनीलदेहः
काकोऽमृताक्तवचनः समुपागतोऽहम् ॥ १ ॥

भावार्थ—रे क्रूर कोकिल ! तू कदापि कलरव न कर । संसार में इस समय, तुझे चुपही रहना चाहिए । क्या तू नहीं जानता कि, नवीन नीरद के समान देहवाला और पीयूष-सिञ्चित वाणी बोलने वाला काक-नाम धारी मैं आगया हूं ?

त्वं पञ्चमेन विरुतं विजहीहि नूनं ;
वक्तुं वसन्तसमयेऽपि न तेऽधिकारः ।
सम्प्रत्यहं दशसु दिक्षु सदा सहर्षं
तारस्वरेण मधुरेण रवं करिष्ये ॥ २ ॥

भावार्थ—तू पञ्चम स्वर में आलाप करना छोड़ ; वसन्त समय में भी मुख खोलने का तुझे अधिकार नहीं । इस समय, दशो दिशाओं में, उच्च स्वर से, मैं हीं सहर्ष मीठी मीठी बोली बोलूंगा ।

दृष्ट्वापि मामुपगतं किल कज्जलाभं
किन्नाम रे शुक ! न मुञ्चसि पञ्जरं त्वम् ?
वाचाविमर्दितविशुद्धसुधारसोऽहं
स्थाने तवाद्य मधुराणि फलानि भोक्ष्ये ॥ ३ ॥

भावार्थ—रे शुक ! कज्जल के समान आभावाले मुझे आया देख कर भी तू क्यों नहीं अपने पिंजड़े को छोड़ कर पलायन करता ? अपनी वाणी से विशुद्ध सुधा को भी विमर्दित करनेवाला मैं, अब, तेरे स्थान में बैठ कर मीठे मीठे फलों का स्वाद लिया करूंगा !

लोकस्तनोतु नयनद्वयदुःखदात्रे
वर्णाय ते नतितति हरिताय कीर !
शौरिं स्मरत्वसितभीमभुजङ्गमाङ्ग-
रङ्गाभिरामवपुषं परिपालयन् माम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे कीर (शुक) ! दोनों नेत्रों को दुःखदेनेवाले तेरे हरित वर्ण को लोग, अब, दूरही से हाथ जोड़ें। काले भुजङ्ग के रङ्ग के समान सुन्दर शरीरवाले मुझे पाल कर, आज से, वे आनन्दपूर्वक विष्णु भगवान् का स्मरण किया करें।

धातुर्विमानवहनेन विदीर्णदेह !
रे राजहंस ! खगवंशकलङ्कभूत !
निर्गच्छ तुच्छ ! जगतीतलतस्त्वमाशु
मा मा कदापि मम सम्मुखमेहि भूयः ॥ ५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मा के विमान में जुते रहने से विदीर्ण देहवाले, पक्षिकुल के कलङ्क, रे तुच्छ राजहंस ! इस भूतल से तू तुरन्त दूर हो। कदापि पुनर्वार तू मेरे सम्मुख मत आ।

लोकातिशायि गमनं हि ममेति ताव-
द्गर्वं वहस्यतितरां ननु हंस ! यावत्।
दृष्टा त्वया मम गतिर्न विलासिनीनां
लीलाललामगमनानि विडम्बयन्ती ॥ ६ ॥

भावार्थ—रे हंस ! "मेरी चाल सब से अच्छी है"—इस प्रकार के गर्व का बोझा तू तभी तक उठाता है जब तक तूने, विलासिनी कामिनियों की लीला-ललाम गति की भी विडम्बना करने वाली मेरी चाल नहीं देखी।

मुक्ताफलानि कठिनानि मराल ! भुंक्षे ;
मा तेन चेतसि चकास्तु तवाभिमानः।
भुञ्जे ततोऽपि मधुराणि सुकोमलानि
श्राद्धादिकेषु पृथु-पिण्ड-कदम्बकानि ॥ ७ ॥

भावार्थ—रे मराल ! कठोर कठोर मुक्ताफल तू चुंगता है, यह समझ कर तू अपने चित्त में अभिमान का अङ्कुर न उगने दे। श्राद्धादिक में, मुक्ताफलों से भी मधुर और कोमल बड़े बड़े पिण्डे मै सानन्द आस्वादन करता हूं।

रे नीलकण्ठ ! शितिकण्ठतनूभवस्य
भारं वहन्नपि नहि त्रपसे, तदस्तु ।
चित्रं मदीयचरणौ मृदुलौ मनोज्ञौ
दृष्ट्वापि नैव यदधोमुखतां प्रयासि ॥ ८ ॥

भावार्थ—रे नीलकण्ठ ! (मयूर)—शङ्कर के पुत्र (कुमार—कार्तिकेय) के बोझे को लादकर भी यदि तुझे लज्जा नहीं आती, तो न सही ; परन्तु आश्चर्य्य यह है कि, तू मेरे महामृदुल और महा सुन्दर पैरों को देखकर भी, अपना सिर नीचा नहीं कर लेता ।

सर्वे खगाः शृणुत सत्यमहं वदामि
लोकत्रयेऽपि किल कोऽपि न मत्समोऽस्ति ।
द्रष्टा विदीर्णचरणस्य निजप्रियाया
जानाति दाशरथिरेव स मे प्रतापम् ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे समस्त पक्षिवर्ग ! सुनो , मैं सत्य कहता हूं ; इस लोकत्रय में मेरी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है । अपनी प्रिया के क्षत विक्षत चरण को देखने वाले एक वे रामचन्द्रही मेरे प्रताप को जानते हैं ।

तेनास्तु मङ्गलमये समयेऽद्य सद्यो
युष्मासु राजपदवी मम भूतलेऽस्मिन् ।
अत्रैव वृक्षविवरेषु विराजमानः
सर्वाधिकारहरणाय सदा यतिष्ये ॥ १० ॥

भावार्थ—इस लिए, आज ऐसे मङ्गलमय समय में, मैं, तुम्हारा सब का, शीघ्रही राजा हो जाऊं । इसी पेड़ के कोटर में विराजमान होकर मैं, आज से, सब का अधिकार हरण करने की चेष्टा किया करूंगा ।

एवं समालपति दुर्ललितां विरुद्धां
यावद्गिरं च्युतविवेकमतिः स काकः ।
तस्योपरि प्रबलवेगपरस्तु ताव-
च्छ्येनः पपात पविपात इव प्रचण्डः ॥ ११ ॥

भावार्थ—विचार-हीन मूर्ख काक, इस प्रकार, दुर्ललित और विरुद्ध बातें बक ही रहा था, कि बड़े वेगवाला एक प्रचण्ड श्येन (बाज़) वज्रपात के समान, उसके ऊपर टूट पड़ा !

विधि-विडम्बना ।

(मई १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

१

चारु चरित तेरे चतुरानन ! भक्ति-युक्त सब गाते हैं ;
इस सुविशाल विश्व को रचना तुझ से ही बतलाते हैं ।
कहते हैं तुझ में चतुराई है इतनी सविशेष ,
जिसको देख चकित होते हैं शेष, महेश, रमेश ॥

२

चतुर्वेद की शपथ तुझे है मुझे बात यह बतलाना
तूने भी, कह, क्या अपने को महाचतुर मन मे माना ?
माना सत्य ; क्योंकि, तूने कुछ कहा नहीं प्रतिकूल ;
कमलासन ! सचमुच यह तेरी हैगी भारी भूल ॥

३

भली बुरी बातें सुत की सब पिता सदा सुन लेता है ;
अनुचित सुन लेवै तौ भी वह उसे क्षमा कर देता है ।
तेरा तौ त्रिभुवन में विश्रुत परम-पितामह नाम ;
फिर तुझ से कहने सुनने में भय का है क्या काम ।

४

दोष-राशि से दूषित तेरी करतूतें हम पाते हैं ;
अतः यहां पर कोई कोई उनमें से दरसाते हैं ।
अति नीरस, अति कर्कश, अति कटु, वेद वाक्य-विस्तार
क्षण भर तू समेट कर सुन निज अविचारों का सार ॥

५

विक्रम, भोजादिक महीपवर, मही-मयङ्क, महाज्ञानी ;
सरस्वती के सच्चे सेवक, देवद्रुम समान दानी ।
तूने इनसे भूतल भूषित किया अल्पही काल ;
भूल और क्या हो सकती है इस से अधिक विशाल ?

६

काव्य-कला-कौशल-सम्बन्धी रुचिर-सृष्टि के निर्म्माता ;
मधु-मिश्री से भी अति मीठी वचन-मालिका के दाता।
कालिदास, भवभूति आदि को अन्य लोक पहुँचाय,
कविता-वधू विधे ! तूनहीं विधवा करदी हाय !!

७

कपिल, कणाद, पतञ्जलि, गौतम, व्यास आदि वर विज्ञानी
जिनकी किर्ति-ध्वजा अभीतक सतत फिरै है फहरानी।
उनको भी तूने क्षणभंगुर किया, विवेक विहाय,
दिखलावें हम तेरी किन किन भूलों का समुदाय ?

८

रम्यरूप, रसराशि, विमलवपु, लीला-ललित, मनोहारी,
सब रत्नों में श्रेष्ठ शशिप्रभ अति कमनीय नवल नारी।
रच, फिर उसको जरा-जीर्ण तू करता है निःशेष !
भला और तुझ जरठ जीव से क्या होगा, सुविशेष !

९

उपलपात, जलपात, भयङ्कर वज्रपात भी सहते हैं ;
देहपात तक भी सहने में कोई कुछ नहिँ कहते हैं।
किन्तु असह्य उरोज-पात का करते ही कुविचार
तेरी विषम बुद्धि पर बुधवर हँसते हैं शत बार ॥

१०

कटु इन्द्रायण में सुन्दर फल ! मधुर ईख में एक नहीं !
बुद्धिमांद्य की सीमा तूने दिखलाई है कहीं कहीं।
निपट सुगन्धहीन यदि तूने पैदा किया पलाश,
तो क्या कञ्चन में भी तुझको करना न था सुवास ?

११

विश्व बनानेवाला तुझ को सब कोई बतलाते हैं ;
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते हैं।
यदि तेरे कर में कुछ होता कला-कुशलता लेश,
काक और पिक एक रङ्ग के क्यों होते लोकेश ?

१२

वायस विहरे हैं गलियों में; हंस न पाये जाते हैं;
कण्टकारि सब कहीं; कमल-कुल कहीं कहीं दिखलाते हैं।
मृगमद पान का क्या कोई थाही नहीं सुपात्र
जो तूने उससे पशुओं का किया सुगन्धित गात्र ?

१३

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते हैं ?
घोर घमण्डी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लङ्क ?
चिन्ह देख जिसमें सब उनको पहचानते निशङ्क ॥

१४

दुराचारियों को तू प्रायः धर्म्माचार्य्य बनाता है;
कुत्सित-कर्म्म-कुशल कुटिलौं को अक्षरज्ञ उपजाता है।
मूर्ख धनी; विद्वज्जन निर्धन; उलटा सभी प्रकार!
तेरी चतुराई को ब्रह्मा! बार बार धिक्कार ॥

१५

घोड़े जहां अनेक, गधों का वहां काम क्या था? सच कह;
विदित होगई तेरी सारी चतुराई; तू चुपही रह।
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नए नए अख़बार ॥

१६

विधे! मनोज्ञ-मातृ-भाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़;
रामनाम सुमिरन कर बुड्ढे और काम से अब मुख मोड़।
एकानन हम, चतुरानन तू; अतः कहैं क्या और विशेष ?
बुद्धिमान जन को इतनाही बतलाना बस है भुवनेश!

—*—

हे कविते!

(जून १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

१

सुरम्यरूपे! रसराशिरञ्जिते!
विचित्रवर्णाभरणे! कहां गई?

अलौकिकानन्द-विधायिनी महा-
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहां ?

२

कहां मनोहारि-मनोज्ञता गई ?
कहां छटा क्षीण हुई नई नई ?
कहीं न तेरी कमनीयता रही ;
बता तुही तू किस लोक को गई ?

३

नहीं कहीं भी भुवनान्तराल में
दिखा पड़े है तव रम्यरूपता।
सजीव होती यदि जीवलोक में
कभी कहीं तो मिलती अवश्य ही ॥

४

सती हुई क्या कवि-कालिदास के
शरीर के साथ तभी अनाथ हो ?
विलुप्त किम्वा भवभूति-सङ्ग ही
हुई मही से, अवलम्ब के बिना ?

५

प्रयाण तूने तब जो नहीं किया,
विराजती भूतल में रही कहीं।
अवश्य श्रीहर्ष-शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई, गई, गई ॥

६

हुआ पुनर्जन्म फिरङ्ग-देश में ;
परन्तु सो भी कुछ काल के लिए।
पता वहां भी मिलता नहीं हमें ;
बता कहां है अब तू मनोरमे !

७

नितान्त अन्धों पर भी कभी कभी
कृपावती होकर हे सुलक्षणे !
सदैव तू तन्मुख-मन्दिर-स्थिता
प्रकाशती है निज सर्व सम्पदा ॥

८

सुनेत्रधारी यदि तू चहै नहीं ;
अनेत्रियों का न अभाव हिन्द में।
अतः उन्हीं से चुन एक आध को
कृपाधिकारी अपना बना, बना ॥

९

कभी कभी तू अब भी दयाघने !
दया करै है इस दीन देश पै।
महान्महाराष्ट्र, विशाल-बङ्ग में
विकास तेरा कविते ! कल्ही हुआ ॥

१०

मनुष्य सारे सम हैं तुझे सदा ;
विचारती जाति न पाँति तू कभी।
इसी लिए दोष तुझे न दे सकैं ;
अनेक-दोषाकर हाय ! हैं हमीं ॥

११

अनन्तवर्षावधि तू यहां रही ;
तथापि तेरा कुछ ज्ञानही नहीं।
विचित्रता और विशेष क्या कहें ;
कृतघ्नता का बस अन्त होगया ॥

१२

अभी हमें ज्ञात यही नहीं हुआ,
रही किमाकारक तू रसात्मिके !
स्वरूपही का जब ज्ञान है नहीं,
विभूषणों की तब क्या कहें कथा ?

१३

तुकान्तही में कवितान्त है-यही
प्रमाण कोई मतिमान मानते।
उन्हें नहीं काम कदापि और से ;
अहो महामोह ! प्रचण्डता तव ॥

१४

कवीश कोई यमक-च्छटामयी
महाघटाटोपवती सुचोलिका
बनाय नाना विध हे विचक्षणे !
तुझे वशीभूत हुई विचारते ॥

१५

सदा समस्या सब को नई नई
सुनाय कोई कवि पाय पूर्तियां।
तुझे उन्हीं में अनुरक्त मान, वे
विरक्त होते नहिँ; हा रसज्ञता !

१६

कहीं कहीं छन्द ; कहीं सुचित्रता ;
कहीं अनुप्रास-विशेष में तुझे।
सुजान ढूंढैं अनुमान से सदा ;
परन्तु तू काव्य-कले ! वहां कहां ?

१७

सकैं तवाकार बनाय भी यदि,
वृथा परिश्रान्ति तथापि सर्वथा,
बताइए, जीव-विहीन-देह से
सजीव की सुन्दरि क्या समानता ?

१८

विचार ऐसे जगदम्ब ! हैं जहां,
न दर्शनों का तव आसरा वहां।
अजेय इच्छा उस ईश की; उसे
मिटाय देवै, यह शक्ति है किसे ?

१९

विडम्बना जो यह हो रही तव,
समूलही भूल उसे दयामयि !
पधारने की अभिलाष होय जो,
न आव तौभी कुछ काल लौं यहां ॥

२०

अभी मिलैगा ब्रज-मण्डलान्त का
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एकही।
शरीर-सङ्गी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्यही॥

२१

इसी लिएही भवभूति-भाविते!
अभी यहां हे कविते! न आ, न आ।
बता तुही कौन कुलीन कामिनी
सदा चहैगी पट एकही वही?

२२

सुरम्यताही, कमनीय कान्ति है;
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे!
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है;
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही॥

२३

हुआ जिन्हों को यह तत्व ज्ञात,
वही वशीभूत तुझे करैंगे।
विलम्ब से वा अविलम्ब से वा
दया उन्हीं पै तव देवि! होगी॥

२४

कुछ समय गए पै योग्यता जो दिखावै
सदय-हृदय हो के तू उसी के यहां आ।
न उचित अबला का नित्य स्वच्छन्द-वास;
बस अधिक कहैं क्या? हे महामोद-दात्रि!

——:o:——

ग्रन्थकार-लक्षण।

(अगस्त १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

१

एक प्रवासी ज्ञान-निधान,
तीर्थराज वासी, गुणवान,

बुद्धि-राशि विद्या का वारिधि, पास हमारे आया है।
नाना कथा नवीन नवीन
कहने में वह महा-प्रवीण ;
ग्रन्थकार महात्म्य मनोहर उसने हमें सुनाया है॥

२

सुन कर वह माहात्म्य अपार;
सोच समझ कर भले प्रकार;
परमानन्दरूप-नद में मन बहता है लहराता है।
उसकाही लेकर आधार;
निज वचनों का कर विस्तार;
लक्षण-मात्र ग्रन्थकारों का यहां सुनाया जाता है॥

३

शब्द-शास्त्र है किसका नाम ?
इस झगड़े से जिन्हें न काम ;
नहीं विराम-चिन्ह तक रखना जिन लोगों को आता है।
इधर उधर से जोर बटोर,
लिखते हैं जो तोड़ मरोड़ ;
इस प्रदेश में वेही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

४

भला बुरा छपवाए सिद्ध ;
धन न सही ; नामही प्रसिद्ध ;
नाटक, उपन्यास लिखने में ज़रा न जो सकुचाते हैं।
जिनके नाच कूद का सार
बँगला-भाषा का भण्डार,
वेही महा-महिम-विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

५

जिनके लोचन कोटर-लीन ;
कच-कलाप तक तैल-विहीन ;
जिन के जर्जर तन को मैले कपड़े सदा छिपाते हैं।
कुटिल कटाक्ष किन्तु दुर्दान्त ;
मति भी, गति भी कुटिल नितान्त ;
वेही भारत-वर्ष देश में ग्रन्थकार-पद पाते हैं॥

६

अन्यदेश-भाषा का ज्ञान
कालकूट के घूंट समान;
स्वयं मातृभाषा भी जिनको देख देख घबड़ाती है।
भाड़े पर रख विज्ञ विशेष,
लिखवाते हैं जो निज लेख,
ग्रन्थकार-पदवी उनकोही दौड़ दौड़ लिपटाती है॥

७

जिनकी जिह्वा को खर धार
देख, चमत्कृत छुर हज़ार,
किन्तु लेखनी जिनके कर में धार-हीन हो जाती है।
लेखन-कला-कुशलता-हीन;
बातों में जो बड़े प्रवीण;
ग्रन्थकार-पदवी उनकोही बिना मोल मिल जाती है॥

८

लक्ष्मी जिन लोगों के द्वार
आती नहीं एक भी बार;
सरस्वती जिनके प्रताप से भूतल से भग जाती है।
मानो मत्त-गयन्द समान;
अथवा मूर्तिमान अभिमान:
उनकोही सद्ग्रन्थकार की पदवी गले लगाती है॥

९

पाकालय का अन्तर्भाग
नहीं देखता जलती आग;
किन्तु सदा ईर्षानल से तन जिनका जलता रहता है।
सुरगुरु को भी गाली-दान
देने में जिनको लज्जा न;
उनकोही ऊंचे दरजे के ग्रन्थकार जग कहता है॥

१०

ए, बी, सी, डी का भी ज्ञान
जिनको अच्छी भाँति हुआ न,

अँगरेज़ी उद्धृत करने में किन्तु न जो शरमाते हैं।
ऐसे विद्या-बुद्धि-निधान
जिनका बड़ा मान सम्मान,
निश्चय वेही परम प्रतिष्ठित ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

११

संस्कृत-भाषा कौन पदार्थ ?
जिन्हें न यह भी विदित यथार्थ ;
धर्म्मशास्त्र का मर्म्म किन्तु जो लिख लिख कर समझाते हैं।
जन-समाज-संशोधन-कार ;
व्यर्थ-वाद जिनका व्यापार ;
सत्य सत्य वेही अति उत्तम ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

१२

अपने ग्रन्थों का प्रति वर्ष
विज्ञापन लिख स्वयं सहर्ष,
व्यास और वाल्मीकि तुल्य जो अपने को बतलाते हैं।
अथवा पुत्र, मित्र का नाम
देकर जो निकालते काम,
अति गम्भीर-ग्रन्थकारों के गुरुवर वे कहलाते हैं॥

१३

अपनी पुस्तक की सानन्द
स्वयं समीक्षा लिख स्वच्छन्द,
अन्य नाम से अख़बारों में जो शत बार छपाते हैं।
निज मुख से जो गुण-विस्तार
करते सदा पुकार पुकार,
ग्रन्थकार-पद- योग्य सर्वथा वेही समझे जाते हैं॥

१४

गृह मे गृहिणी कोप-निधान
देती जिन्हे न आदर-दान ;
बाहर जिन्हें न पाठक-गण भी भक्ति-भाव दिखलाते हैं।
जिनका कहीं नहीं सम्मान ;
तिस पर घोर घमण्ड घटा न ;
ग्रन्थकार-सिंहासन ऊपर आसन वही लगाते हैं॥

१५

ग्रह ज्यों रवि के चारों ओर
किया करें हैं दौरा दौर,
त्यों पुस्तक-विक्रेता की जो बहु प्रदक्षिणा करते हैं।
दग्धोदर जो किसी प्रकार
भरते हैं सदैव झख मार ;
ग्रन्थकार-गौरव की झोली वेही यश से भरते हैं॥

१६

किसी समालोचक के द्वार
सिर घिस घिस कर बारं बार,
निज पुस्तक की समालोचना जो सविनय लिखवाते हैं।
यदि आशय पाया प्रतिकूल,
ढूंढा और कहीं अनुकूल ;
ग्रन्थकार-कुल कुमुद-चन्द्रमा वेही माने जाते हैं॥

१७

टेक्सट् बुक्स की सभा प्रधान ;
उसके जितने सभ्य सुजान ;
उनके प्रिय-पुत्रादिक को जो मोदक मञ्जु खिलाते हैं।
आते हैं जो प्रातः काल ;
और झुकाते हैं निज भाल ;
ग्रन्थकार-कनकासन ऊपर वेही मज़े उड़ाते हैं॥

१८

नूतन-चित्र-चरित्र-प्रचार
करके उनकी रुचि अनुसार,
निज पुस्तक में जो धनिकों की व्यर्थ बड़ाई गाते हैं।
उनसे रख भिक्षा की आस,
करते हैं जो वचन-विलास,
ग्रन्थकार-गुरुवों के भी वे कर्णधार कहलाते हैं॥

१९

ग्रन्थकार-गुण-गण निःशेष
गान नहीं कर सकता शेष ;

इसी लिए हम इस वर्णन को आगे नहीं बढ़ाते हैं।
हे हे ग्रन्थकार ! गुण-धाम !
हे समर्थ ! हे पावन-नाम !
शत योजन से हम यह अपना मस्तक तुम्हें झुकाते हैं ॥

सेवावृत्ति की विगर्हणा।

(७ सितम्बर १९०२ के अवध-समाचार में प्रकाशित)

१

चाहे कुटी अति घने वन में बनावै;
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावै।
चाहे कभी नर नये पट भी न पावै;
सेवा प्रभो ! पर न तू पर की करावै ॥

२

सेवा-समान अति-दुस्तर दुःखदायी
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई।
जीना कभी न उसका जग में भला है;
जो पेट हेत पर-सेवन को चला है ॥

३

स्वातन्त्र्य-तुल्य अतिही अनमूल्य रत्न
देखा न और बहु बार किया प्रयत्न।
स्वातन्त्र्य मे नरक-बीच विशेषता है;
न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है ॥

४

जो आत्मभाव अपना गिरि से गिरावै;
मानापमान कुछ भी मन में न लावै।
जो शीश नीच-नर-सन्मुख भी झुकावै;
सेवा वही कर, किसी विध, पार पावै ॥

५

निद्रा, क्षुधादिक न जो जन जानते हैं;
न प्रात, रात, दिन जो पहचानते हैं।
जो मौन, दुर्वचन भी सुन, ठानते हैं;
स्वातन्त्र्य खोकर वही सुख मानते हैं ॥

६

कोई कठोर यदि बात उसे कहै है,
कुत्ता कभी न फिर पास खड़ा रहै है।
दुर्वाक्य-बाण सह जो न करैं विचार,
धिक्कार क्यों न उनको दश लाख बार ?

७

जो श्वान के सदृश सेवक मानते हैं,
वे तुल्यता न करना नर जानते हैं।
कुत्ता कहां सकल काल यथेच्छचारी ?
विक्रीत-जीवन कहां जन दास्यकारी ?

८

पूजा यथा-समय, न प्रभु-नाम-जाप;
होता शरीर-सुख से न कभी मिलाप।
न स्वार्थही न परमार्थ-विचार-बात;
सेवा किये सब सुखों पर वज्रपात॥

९

सौम्य स्वरूप शिव ने सिर पै बिठाया;
सर्व-प्रकार अति आदर भी दिखाया।
तौभी महा-कृश कलाधर की कला है,
हा हा ! पराश्रय नहीं किसको खला है ?

१०

आलस्य-लीन, शुचि-सज्जनता-विहीन,
अन्तर्मलीन, पर-पीड़न में प्रवीण।
दे दैव ! दण्ड मन जो कुछ और आवै ;
ऐसे प्रभु-प्रवर से पर तू बचावै॥

इति।

—*—